श्रीअरविन्द कर्मधारा

24 अप्रैल, 2020 वर्ष 50 अंक-2

श्रीअरविन्द आश्रम-दिल्ली शाखा श्रीअरविन्द मार्ग, नई दिल्ली

श्री अरविन्द कर्मधारा

श्री अरविन्द आश्रम
दिल्ली शाखा का मुखपत्र

मार्च-अप्रैल 2020

(अंक-2)

संस्थापक

श्री सुरेन्द्रनाथ जौहर 'फकीर'

सम्पादन : अपर्णा रॉय

विशेष परामर्श समिति

कु0 तारा जौहर, विजया भारती,

ऑनलाइन पब्लिकेशन ऑफ

श्रीअरविन्द आश्रम, दिल्ली शाखा

(नि:शुल्क उपलब्ध)

कृपया सब्सक्राइब करें-

saakarmdhara@rediffmail.com

कार्यालय

श्री अरविन्द आश्रम, दिल्ली-शाखा

श्री अरविन्द मार्ग, नई दिल्ली-110016

दूरभाषः 26567863, 26524810

आश्रम वैबसाइट

(www.sriaurobindoashram.net)

लक्ष्य-प्राप्ति

चाहे तपस्या द्वारा हो या समर्पण द्वारा, इसका कोई महत्व नहीं है, महत्वपूर्ण बस यही चीज है कि व्यक्ति दृढ़ता के साथ अपने लक्ष्य की ओर अभिमुख हो। जब एक बार कदम सच्चे मार्ग पर चल पड़े तो कोई वहाँ से हटकर ज्यादा नीची चीज की ओर कैसे जा सकता है ? अगर आदमी दृढ़ बना रहे तो पतन का कोई महत्व नहीं, आदमी फिर उठता है और आगे बढ़ता है। अगर आदमी अपने लक्ष्य की ओर दृढ़ रहे तो भगवान् के मार्ग पर कभी अन्तिम असफलता नहीं हो सकती। और अगर तुम्हारे अन्दर कोई ऐसी चीज है जो तुम्हें प्रेरित करती है, और वह निश्चित रूप से है, तो लड़खड़ाने, गिरने या श्रद्धा की असफलता का परिणाम में कोई महत्वपूर्ण फर्क नहीं पड़ेगा। संघर्ष समाप्त होने तक चलते जाना चाहिये। सीधा, खुला हुआ और कंटकहीन मार्ग हमारे सामने है।

-श्री अरविन्द

विषय सूची

क्र.सं.	विषय	लेखक	पृष्ठ
1	प्रार्थना और ध्यान	श्रीमाँ	4
2	संपादकीय	अपर्णा रॉय	5
3	प्राणिक आवेग, सच्चा प्राण और प्रेम	अनुवाद-रवीन्द्र	7
4	प्रदीपन	अनुवाद-रवीन्द्र	9
5	दिव्य प्रेम को अभिव्यक्त करना	गतांक से आगे..	11
6	प्रेम के सोपान	संकलन	13
7	पांडिचेरी की ओर	रवीन्द्र	16
8	'चैत्य पुरूष' से क्या अभिप्राय: है	डा. ए. एस दलाल	18
9	कब सीखेगा मनुष्य!	श्रीमाँ	20
10	श्रीमाँ स्वयं के बारे में	संकलन: विमला गुप्ता	21
11	लघु कथा	जगदीश	24
12	श्रीमाँ और साधारण जन	विष्णु प्रभाकर	26
13	सच्चा आनन्द	मुरारीलाल पराशर	30
14	साधनामय जीवन	डा. इन्द्रसेन	32
15	ऊषानगरी 'ऑरोविल'	मुरलीधर चांदनीवाला	36
16	29 फरवरी	संकलन	40
18	आश्रम की गतिविधियाँ		43

ॐ आनन्दमयि चैतन्यमयि सत्यमयि परमे

श्रीअरविन्द कर्मधारा

प्रार्थना और ध्यान

हे प्रभो! तेरे प्रति मेरी अभीप्सा ने एक सामंजस्यपूर्ण, पूरी तरह खिले हुए और सुगन्ध से भरे सुन्दर गुलाब का रूप ले लिया है। मैं समर्पण की मुद्रा में दोनों बाहें फैलाकर उसे तेरी ओर बढ़ा रही हूँ और मैं तुमसे याचना करती हूँ कि अगर मेरी समझ सीमित है तो उसे विस्तृत कर, अगर मेरा ध्यान धुँधला है, तो उसे आलोकित कर, अगर मेरा हृदय उत्साह से खाली है तो उसे प्रज्ज्वलित कर, अगर मेरा प्रेम तुच्छ है तो तू उसे विशाल बना।

अगर मेरी भावनाएँ अज्ञानभरी और अहंकारपूर्ण हैं तो उन्हें सत्य के अन्दर पूरी चेतना प्रदान कर और मैं जो तुमसे यह सब माँग रही हूँ, वह हे प्रभु! एक छोटा सा व्यक्तित्व नहीं है, जो हजारों में खोया हुआ है बल्कि सारी पृथ्वी उत्साह से भरी गति में तेरी तरफ अभीप्सा कर रही है।

मेरे ध्यान की पूर्ण नीरवता की पूर्ण शान्ति में तू अपने प्रकाश की देदीप्यमान महिमा में प्रकट होता है।

संपादकीय

एक जिज्ञासु साधक सच्चे आनन्द की खोज में एक महात्मा के पास पहुँचा। उसने महात्माजी से बड़े आग्रह के साथ प्रार्थना की कि वे सच्चे आनन्द पर प्रकाश डालें। महात्माजी ने अपनी सहज-शान्त मुस्कान से उस दुःखी व्यक्ति की ओर देख कर कहा,आज तो मैं बहुत अधिक व्यस्त हूँ। आज तुम जाओ, दस दिन के बाद आना, मैं कोशिश करूँगा कि तुम्हें सच्चे आनन्द की प्राप्ति हो जाए। हाँ, इन दस दिनों में तुम परिवार-समाज सबसे अलग रह कर एकान्त में मौन व्रत के साथ समय बिताना।

वह साधक सच्चे आनन्द का जिज्ञासु था। उसने महात्माजी की शर्त का अक्षरशः पालन किया। वह उन दस दिनों तक सबसे पृथक रह कर, पूर्ण मौन रह कर आत्म-चिन्तन में लगा रहा।

दस दिन के बाद वह साधक जब महात्माजी के पास पहुँचा, तब वह उनसे कोई जिज्ञासा करने के स्थान पर बोला, आपकी शर्त से तो मुझे आनन्द-सागर में गोते लगाने का अवसर मिल गया। इतने वर्षों तक मुझे जो आनन्द नहीं मिला था, वह मुझे इन दस दिनों के एकान्तवास और मौन में मिल गया। अब तो मेरी कोई जिज्ञासा ही नहीं रही।

सच है कि मौन अवस्था में हमारी सब वृत्तियाँ मरती नहीं, वे प्राण के स्रोत में पहुँच कर, अन्तर्मुखी होकर, नव-जीवन का घूँट पीने लगती हैं। जब वे बहिर्मुखी होती हैं, तब अपने को क्षीण करती हैं। अन्तर्मुखी होकर वे शक्ति और आनन्द का स्रोत बन जाती हैं। सच है कि बोलना सीखने में समय नहीं लगता, किन्तु चुप रहना हम उम्र भर नहीं सीख पाते।

साथियों! एकान्तवास यदि सही अर्थों में प्राप्त हो जाए तो मानव मन से अकेलेपन का दुख तिरोहित हो जाता है। मौन अवस्था धीरे-धीरे हमारी चेतना को हमारे आन्तरिक जगत में प्रविष्ट कराने में सहायक होती है। विश्व में चारों तरफ आज की अवस्था यही मांग कर रही है, सभी को बाह्य भौतिक दूरी को स्वीकार करना तथा आन्तरिक ऐक्य को प्राप्त करना होगा। आज मानव भौतिक तरक्की की चरम-सीमा को छू रहा है, प्राणिक उलझनें उसे और भी उलझाती जा रही हैं, वहीं उसे एक अनदेखे, अदृश्य-अस्तित्व वाले तथाकथित कोरोना वायरस नाम के सूक्ष्म जीवाणु ने उसके भौतिक अस्तित्व की औकात दिखा दी है। आवश्यकता है, हमें सचेतन रूप से अपनी आस्था में **सत्यनिष्ठा** द्वारा धीरज और **साहस** को कायम रखने की, अपनी उपलब्धियों को ईश्वरीय कृपा जानते हुए उनके प्रति **कृतज्ञता** अपनाने की, आज की इस विषम परिस्थिति में भी प्राप्त होने वाली सभी सुरक्षात्मक सुविधाओं के प्रति **विनम्रता**

और **उदारता** पूर्वक आपसी साझेदारी की, मन को अचंचल बनाए रखते हुए **शांति** के सतत् **प्रयास** (अध्यवसाय) की, उच्च आन्तरिक चेतना द्वारा मिलने वाले संकेतों के प्रति **ग्रहणशीलता** की। स्वयं के ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण विश्व के प्रति **शुभेच्छा**-भाव के प्रसार द्वारा सर्वमंगल की कामना से ईश्वरीय सहायता हेतु प्रार्थना में सच्ची **अभीप्सा** की और इस प्रकार ईश्वरीय आस्था और विश्वास के द्वारा श्रीमाँ के प्रतीक में इंगित गुणों को जीवन का केन्द्र बनाते हुए, सर्वांगीण **प्रगति** की, ताकि हम विश्व स्तर पर फैली इस विषम-विपत्ति का सामना करने के लिए ईश्वरीय सहायता को पूर्ण गहराई के साथ पुकार सकें।

शुभेच्छा-

प्राणिक आवेग, सच्चा प्राण और प्रेम

अनुवाद - रविन्द्र

प्राणिक आवेग बिलकुल अलग स्वभाव के होते हैं- वे बहुत स्पष्ट, बहुत यथार्थ होते हैं। तुम उन्हें बहुत स्पष्ट रूप से प्रकट कर सकते हो। वे उग्र होते हैं, प्रायः तुम्हें तीव्रता और बेचैनी से भर देते हैं और कभी-कभी बहुत सन्तोष से। और तब उसी शक्ति के साथ विपरीत चीजें आती हैं। अतः बहुत से लोग सोचते हैं हम यह बात पहले भी कई बार कह चुके हैं। कुछ लोग कल्पना करते हैं कि प्रेम का अनुभव तभी होता है जब वह ऐसा हो, जब प्रेम प्राणमय हो,जब वह प्राण की सभी गतिविधियों के साथ आये, सारी तीव्रता, उग्रता, यथार्थता, तड़क भड़क, चमक के साथ आये, तभी प्रेम है। और जब यह सब न हो तो वे कहते हैं, कि यह प्रेम नहीं है।

और ठीक इसी तरह से प्रेम विकृत हो जाता है, वह प्रेम नहीं रह जाता, आवेग बनना शुरू कर देता है। मनुष्यों में यह व्यापक भूल है।

कुछ लोग बहुत शुद्ध, उच्च, और निःस्वार्थ चैत्य प्रेम से भरे होते हैं, फिर भी उन्हें उसके बारे में कुछ भी नहीं मालूम होता और वे समझते हैं कि वे बिलकुल शीत, शुष्क और प्रेमहीन हैं क्योंकि उनमें प्राणिक स्पन्दनों के मिश्रण का अभाव है। चूंकि यह बहुत अधिक अस्थिर होता है जिसमें सब प्रकार की गतियां, प्रतिक्रियाएं और उग्रताएं होती हैं, सन्तोष में हो या अवसाद में, इन लोगों के लिए प्रेम बहुत ही क्षणभंगुर होता है। उनके जीवन में प्रेम के क्षण होते हैं। वह कुछ घण्टों तक चल सकता है और फिर मन्द और नीरस हो जाता है और तब वे कल्पना करते हैं कि प्रेम उन्हें छोड़ गया है।

जैसा कि मैंने कहा, कुछ लोग इसके परे हैं। वे इस तरह संयम कर सकते हैं कि वह प्रेम किसी और चीज के साथ घुल-मिल नहीं सकता। उनके अपने अन्दर वह चैत्य प्रेम होता है जो आत्म-विस्मृति से,आत्मदान से, करूणा तथा जीवन की उदात्तता से भरा होता है और यह तादात्म्य की बहुत बड़ी शक्ति है। इनमें से अधिकतर लोग समझते हैं कि वे ठण्डे और उदासीन हैं। वे बहुत अच्छे लोग होते हैं लेकिन वे प्रेम नहीं करते। कभी-कभी स्वयं उन्हें भी पता नहीं होता। मैं ऐसे लोगों को जानती थी जो सोचते थे कि उनमें प्रेम नहीं है, क्योंकि उनमें यह प्राणमय स्पन्दन नहीं है। सामान्यतः जब लोग आवेगों की बात करते हैं तो उनका मतलब प्राणिक आवेग से होता है। लेकिन एक और तरह का आवेग भी होता है जो कहीं अधिक ऊंचे स्तर का होता है और अपने-आपको इस तरह प्रकट नहीं करता, जिसमें तीव्रता तो उतनी ही होती है पर रहती है नियन्त्रित।

क्या हमारे प्राण-पुरूष को भागवत प्रेम में भाग लेना होता है?

भागवत प्रेम की अभिव्यक्ति को कहाँ रोकना चाहिए? क्या उसे किसी अवास्तविक और अमूर्त क्षेत्र में सीमित रखना चाहिए? भागवत प्रेम अपनी अभिव्यक्ति को पृथ्वी के अत्यन्त जड़-पदार्थ तक में डुबाता है। वस्तुतः वह अपने-आपको मानव -चेतना के स्वार्थ-भरे विकारों में नहीं पाता, लेकिन भागवत प्रेम में भी प्राण उतना ही महत्तवपूर्ण तत्त्व है जितना समस्त अभिव्यक्त विश्व में।

प्राण की मध्यस्थता के बिना गति या प्रगति की कोई सम्भावना नहीं रहती। लेकिन, चूंकि प्रकृति की इस शक्ति को इस बुरी तरह विकृत किया गया है, इसलिए कुछ लोग मानते हैं कि उसे खींचकर एकदम

बाहर कर देना चाहिए। लेकिन आत्मा की रूपान्तरकारिणी शक्ति प्राण के द्वारा ही जड़-भौतिक को छू सकती है। अगर प्राण अपनी गतिशीलता और जीवित शक्ति से अनुप्राणित करने के लिए न हो तो जड़-पदार्थ मृत बना रहेगा, क्योंकि सत्ता के उच्चतर भाग पृथ्वी के सम्पर्क में न आएँगे और जीवन में मूर्त रूप न लेंगे, वे असन्तुष्ट हो चले जायेंगे और लुप्त हो जाएगें।

मैं जिस भागवत प्रेम की बात कर रही हूँ वह ऐसा प्रेम है जो यहाँ भौतिक पृथ्वी पर, जड़-पदार्थ में अभिव्यक्त होता है। लेकिन अगर उसे मूर्त रूप लेना हो तो मानव विकारों से मुक्त होना चाहिए। सब अभिव्यक्तियों की तरह इसमें प्राण एक अनिवार्य साधन है। लेकिन जैसा हमेशा होता आया है, विरोधी शक्तियों ने इस अत्यधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु पर अधिकार कर लिया है। प्राण की ही ऊर्जा मन्द और संवेदनाहीन पदार्थ में प्रवेश करती है और उसे प्रत्युत्तरदायी और जीवित बनाती है। लेकिन विरोधी शक्तियों ने उसे बिगाड़ दिया है और उसे उग्रता, स्वार्थ, कामना व कुरूपता का क्षेत्र बना दिया है और उसे भागवत कार्य में भाग लेने से रोक दिया है।

मनुष्य के लिए करने लायक चीज़ एक ही है, उसे बदलो, न तो उसकी गति को दबा दो, न ही उसे नष्ट करो, क्योंकि उसके बिना कहीं भी कोई तीव्रता सम्भव न होगी। स्वभावतः, प्राण ही हमारे अन्दर वह चीज है जो अपने-आपको पूरी तरह से दे सकती है। चूंकि यह वह चीज़ है जिसमें हमेशा लेने का आवेग और बल होता है, इसीलिए वह अपने-आपको अधिक से अधिक देने के भी योग्य है, चूंकि प्राण अधिकार करना जानता है इसलिए वह अपने-आपको बिना कुछ बचाए छोड़ देना भी जानता है। सब गतियों में सच्ची प्रारम्भिक गति सबसे अधिक सुन्दर और शानदार होती है लेकिन उसे तोड़ मरोड़ कर सबसे भद्दा, विकृत और घिनौना बना दिया गया है। जहां कहीं प्रेम की मानव कहानी में सच्चे प्रेम का अणु प्रवेश कर पाया है, और उसे विकृत हुए बिना प्रकट होने दिया गया है, वहाँ हम सुंदर और सच्ची चीज़ पाते हैं। और अगर यह गति टिक नहीं पाती तो इसका कारण यह है कि वह अपने लक्ष्य और अपनी खोज के बारे में सचेतन नहीं होती, उसे यह ज्ञान नहीं होता कि वह एक सत्ता के साथ दूसरी सत्ता के ऐक्य की खोज नहीं कर रही; उसे चाहिए भगवान के साथ सत्ताओं का ऐक्य।

(पुस्तक-**प्रेम** से)

प्रदीपन

अनुवाद - रवीन्द्र

सृष्टि की कहानी

परम प्रभु ने जब अपने-आपको मूर्त रूप देने का निश्चय किया, ताकि वे अपने-आपको देख सकें तो जिस चीज़ को उन्होंने सबसे पहले अपने में से बाहर प्रकट किया वह था जगत् का 'ज्ञान' और उसे सृष्ट करने की 'शक्ति'। इस 'ज्ञान-चेतना' और 'शक्ति' ने अपना काम शुरू किया; परम संकल्प में एक योजना थी और उस योजना का पहला सिद्धान्त यह था कि मूलभूत 'आनन्द' और 'स्वतन्त्रता' की साथ-ही साथ अभिव्यक्ति हो, जो इस सृष्टि की सबसे रोचक विशेषता मालूम होती है।

इस 'आनन्द' और 'स्वतन्त्रता' को सृष्टि-रूप में अभिव्यक्त करने के लिए मध्यवर्त्ती सत्ताओं की आवश्यकता हुई। शुरू में चार सत्ताएँ विश्व -विकास का प्रारम्भ करने के लिए बाहर प्रकट की गईं, यह विश्व-विकास उस सबको क्रमशः बाहर प्रकट करने के लिए था जो परम प्रभु में सम्भाव्यता के रूप में मौजूद था। मूलतः वे सत्ताएं थीं 'चेतना' और 'प्रकाश' 'जीवन' 'आनन्द' और 'प्रेम' तथा 'सत्य'।

तुम आसानी से कल्पना कर सकते हो कि उनमें एक ऐसी भावना थी कि उनके पास एक महान शक्ति है,महान बल हैं, कुछ ऐसी चीज़ है जो दुर्जेय है, क्योंकि मूलतः वे इन चीजों का सत्त्वरूप ही तो थीं, साथ ही उन्हें चुनाव करने की पूरी स्वतन्त्रता थी क्योंकि यह सृष्टि स्वयं स्वतन्त्रता का साकार रूप बनने वाली थी...। जैसे ही उन्होंने काम करना शुरू किया- इसे कैसे किया जाए इस बारे में उनकी अपनी-अपनी कल्पना थी। पूर्णतः स्वतन्त्र होने के कारण उन्होंने इसे स्वच्छन्द रूप में करना पसन्द किया। सेवक और यन्त्र की वृत्ति को अपनाने की जगह... उन्होंने स्वभावतः स्वामी होने की वृत्ति अपनायी, और यह भूल ही, मैं कह सकती हूँ, विश्व की अव्यवस्था का प्रथम कारण, उसका मूल कारण थी। जैसे ही अलगाव हुआ, क्योंकि मूलभूत कारण है यही विभाजन, जैसे ही सर्वोच्च सत्ता और उससे प्रकट हुई वस्तु के बीच विभाजन हुआ वैसे ही 'चेतना' निश्चेतना में 'प्रकाश' अन्धकार में', 'प्रेम', घृणा में, 'आनन्द' कष्ट में 'जीवन' मृत्यु में और 'सत्य' मिथ्यात्व में परिवर्तित हो गया। और वे स्वच्छन्द रूप से, विभाजन और अव्यवस्था में अपनी सृष्टि बनाते चले गये।

उसी का परिणाम यह जगत है जैसा कि हम देखते हैं। यह धीरे-धीरे क्रमिक रूपों में

सम्पन्न हुआ; यह सब तुम्हें बताऊँ तो सचमुच बात लम्बी हो जाएगी, परन्तु अन्ततः इसकी चरम परिणति है जड़-तत्त्व-अन्धकारमय, निश्चेतन, दयनीय...। सर्जक शक्ति ने, जिसने इन चार सत्ताओं को मूलतः संसार की सृष्टि के लिए अपने में से बाहर प्रकट किया था, वह सब देखा जो हो रहा था, और उसने परम प्रभु की ओर मुड़ कर जो अशुभ उत्पन्न हो चुका था, उसके उपचार और प्रतिकार के लिए प्रार्थना की।

तब उसे (सर्जक शक्ति को) अपनी चेतना को नीचे निश्चेतना में, अपने प्रेम को इस दुःख में, और अपने सत्य को इस मिथ्यात्व में उतारने का आदेश मिला। और, पहली बार जिन्हें प्रकट किया गया था उनकी अपेक्षा अधिक बड़ी चेतना, अधिक सम्पूर्ण प्रेम और अधिक पूर्ण सत्य जड़-तत्त्व की वीभत्सता में मानों कूद पड़े ताकि उसमें चेतना, प्रेम और सत्य को जगा सकें और उद्धार के उस कार्य को आरम्भ कर सकें, जिसका प्रयोजन इस भौतिक विश्व को उसके परम स्रोत की ओर वापस ले जाना है।

इस प्रकार, जड़-तत्त्व में ये, क्रमिक अन्तर्लयन हुए हैं और इन्हीं अन्तर्लयनों का वर्तमान परिणाम है, अचेतना में से उभरते अतिमानस का प्रकट होना। पर ऐसा नहीं कहा जा सकता कि इस प्राकट्य के बाद फिर कोई दूसरा नहीं होगा.. क्योंकि परम प्रभु अक्षय हैं, और हमेशा नये जगत् बनाते रहेंगे।

साभार
अग्निशिखा अप्रैल (2011)

अक्षमता के बारे में सभी विचार वाहियात होते हैं, ये प्रगति के सत्य के विरोधी होते हैं। अगर अभीप्सा हो तो जो आज नहीं हो सकता वह किसी और दिन होकर रहेगा।

दिव्य प्रेम को अभिव्यक्त करना (प्रेम के सोपान)

गतांक से आगे...

भागवत प्रेम को अभिव्यक्त करने के लिए तुम्हें उसे ग्रहण करने-योग्य होना चाहिये। क्योंकि उसे वे ही अभिव्यक्त कर सकते हैं जो इसके नैसर्गिक प्रवाह के लिए स्वभावतः खुले होते हैं। उनमें यह उदघाटन जितना विशाल और अबाध होगा उतना ही वे दिव्य प्रेम को उसकी मौलिक पवित्रता के साथ अभिव्यक्त कर सकेंगे। जितना ही यह निम्नतर मानवीय भावों से मिश्रित होता है, उतना ही अधिक विकार इसकी अभिव्यक्ति में आ जाता है। जो प्रेम को उसके असली और सच्चे रुप में ग्रहण करने के लिए खुला हुआ नहीं है वह भगवान के समीप नहीं पहुंच सकता। ज्ञान-मार्ग के अनुयायी भी एक समय ऐसे स्थल पर जा पहुंचते हैं जहाँ से यदि वे आगे बढ़ना चाहें तो अपने-आपको ज्ञान के साथ प्रेम में प्रवेश करते हुए पाते हैं और अनुभव करते हैं कि दोनों एक ही हैं। ज्ञान-भागवत-मिलन की ज्योति है और प्रेम ज्ञान का अपना हृदय।...

जो लोग इस जगत में भगवान को प्रकट करने और पार्थिव जीवन को रुपान्तरित करने के लिए आये हैं उनमें से कुछ ने प्रेम को अधिक पूर्णता के साथ अभिव्यक्त किया है। कुछ में तो इस अभिव्यक्ति की पवित्रता इतनी अधिक थी कि समस्त मानवजाति ने उन्हें गलत समझा। यहां तक कि उन पर कठोर और प्रेमशून्य होने का दोष लगाया गया है, यद्यपि उनमें दिव्य प्रेम विद्यमान है। परन्तु उनमें इसका रुप भी इसके तत्व की तरह मानव नहीं, दिव्य होता है। मनुष्य जब प्रेम की बात करता है तो वह इसे भावावेश और भावुकतापूर्ण दुर्बलता के साथ जोड़ देता है। परन्तु मनुष्य आत्म-विस्मृत की दिव्य प्रगाढता से, बिना संकोच अपने लिए कुछ भी बचा कर रखे बिना,बदले में कुछ भी मांगे बिना, भेंट के तौर पर अपने- आपको पूर्ण रुप से न्योछावर कर देने की शक्ति से अपरिचित-सा है। और जब यह भागवत प्रेम दुर्बल भावुकता-भरे भावावेशों के बिना, अपने सत्य स्वरुप में आता है, तो लोग इसे निष्ठुर और निष्प्राण पाते हैं। वे इसमें प्रेम की उच्चतम और तीव्रतम शक्ति को नहीं पहचान पाते।

आवश्यकता है रुपान्तरण की

जिस भागवत प्रेम के सम्बन्ध में मैं कह रही हूं वह ऐसा प्रेम है जो यहां इस भौतिक पृथ्वी पर, जड़-प्रकृति में अभिव्यक्त हो रहा है, किन्तु यदि उसे अवतरित होना है तो उसे मानव विकृतियों से सर्वथा मुक्त रहना चाहिये। अन्य सभी अभिव्यक्तियों की तरह इसके लिए भी प्राण एक अनिवार्य साधन है। परन्तु जैसा कि हमेशा हुआ है, इस अमूल्य वस्तु पर विरोधी शक्तियों ने अपना अधिकार जमा लिया है।

प्राण की शक्ति ही इस मन्द और संवेदनशून्य जड़-प्रकृति में प्रविष्ट होकर उसे संवेदनशील तथा सजीव बनाती है। परन्तु विरोधी शक्तियों ने इसे विकृत कर दिया है, उन्होंने इसे हिंसा, स्वार्थ, कामना तथा हर प्रकार के भद्देपन का क्षेत्र बना दिया है। इसे भागवत कर्म में भाग लेने से रोक दिया है। बस करने-लायक काम यही है कि हम इसे रुपान्तरित करें इसकी गति का निग्रह अथवा नाश न करें।

क्योंकि इसके बिना कहीं तीव्रता सम्भव नहीं है। हमारे अन्दर प्राण ही वह चीज है जिसका स्वभाव ही है अपने आपको देना। प्राण ही वह तत्व है जिसमें हमेशा किसी चीज को लेने का आवेग तथा बल रहता है।

इसी कारण जो वस्तु अपने-आपको सम्पूर्ण रुप से उत्सर्ग कर सकती है वह भी प्राण ही है। चूंकि वह अधिकार जमाना जानता है, इसलिए वह यह भी जानता है कि बिना कुछ बचाये हुए अपने आपको कैसे दिया जाये । प्राण की सच्ची गति अन्य सभी गतियों से अधिक सुन्दर और अत्यन्त उत्कृष्ट है। किन्तु इसे तोड़ -मरोड़ कर अत्यन्त विरुप और अत्यन्त घृणास्पद बना दिया गया है। प्रेम-सम्बन्धी मानव कथाओं में जहां कहीं शुद्ध प्रेम का अणुमात्र भी प्रवेश हो पाया है और उसे बहुत अधिक विकार के बिना अभिव्यक्त होने दिया है वहीं हमें एक सत्य और सुन्दर वस्तु दिख पड़ती है और यदि यह गति अधिक देर तक नहीं ठहरती तो इसका कारण यह है कि यह अपने उद्देश्य और खोज से सचेतन नहीं है। इसे यह ज्ञान नहीं है कि इसकी खोज का विषय एक सत्ता का दूसरी सत्ताओं के साथ ऐक्य नहीं, बल्कि समस्त सत्ताओं का भगवान के साथ ऐक्य है।

अपने-आपको विशालता के भाव से अभिभूत न होने दो बल्कि उसमें खुशी से और शान्ति के साथ स्नान करो। अगर हम अपरिहार्य रूप से अपनी व्यक्तिगत चेतना की चारदीवारी में बन्द होते तो यह सचमुच दुःखद और अभिभूत करने वाला होता- लेकिन अनन्त हमारे लिए खुला हुआ है, हमें बस उसमें डुबकी लगानी है।

-'श्रीमातृवाणी'

प्रेम के सोपान

सबसे पहले व्यक्ति केवल तभी प्रेम करता है जब उससें प्रेम किया जाता है।
फिर, व्यक्ति सहज रुप से प्रेम करने लगता है, लेकिन बदलें में प्रेम पाना चाहता है।
फिर स्वीकृति की चाह रखता है।

और अन्त में, शुद्ध और सरल रुप से प्रेम करने के आनन्द के सिवाय और दूसरी किसी आवश्कता के बिना प्रेम करता है।
एक ऐसा प्रेम होता है जिसमें भाव अधिकाधिक ग्रहणशीलता और बढ़ते हुए ऐक्य के साथ भगवान की ओर मुड़ता है। उसे भगवान से जो मिलता है उसे वह औरों पर, सचमुच कोई बदला चाहे बिना उड़ेल देता है। अगर तुम में वह योग्यता हो तो यह प्रेम करने का उच्चतम और सर्वधिक सन्तुष्टिदायी तरीका है।

प्रेम का प्रत्युत्तर प्रेम से देना चाहिए-

...यदि घृणा के प्रत्युत्तर में प्रेम दिया जाये ताकि संसार परिवर्तित हो सके, तो क्या यह बात कहीं अधिक स्वाभाविक नहीं होगी कि प्रेम भागवत प्रेम को उत्तर दे?
यदि कोई मनुष्य के जीवन, कर्म और हृदय को देखे, जैसे कि वे हैं, तो उसे उस घृणा, अवज्ञा अथवा कम से कम उदासीनता को देख कर उचित रुप में ही आश्चर्य होगा जो इस असीम भागवत प्रेम के बदले में लौटायी जाती है जिसे भागवत करुणा धरती पर उड़ेलती है, उस भागवत प्रेम के बदले में, जो संसार को भागवत आनन्द की ओर ले जाने के लिए यहां प्रत्येक क्षण कार्य कर रहा है और जिसे मानव हृदय में इतना कम प्रत्युत्तर मिलता है। परन्तु लोग दया दिखाते हैं केवल दुष्टों के प्रति, अधमों के प्रति, अवांछनीयों के प्रति, असफल और असफलताओं के प्रति। वास्तव में इससे दुष्टता और असफलता को एक प्रकार का बढ़ावा मिलता है।

यदि कोई समस्या के इस पहलू पर कुछ विचार करे तो शायद उसे घृणा का उत्तर प्रेम से देने की आवश्कता पर बल देने की जरुरत कम होगी, क्योंकि यदि मानव हृदय अपने अन्दर निरन्तर उंडेले जाने वाले भागवत प्रेम का प्रत्युत्तर सम्पूर्ण सच्चाई के साथ, समझने वाले और मूल्य आंकने वाले हृदय की स्वाभाविक कृतज्ञता के साथ देता, तो जगत् में चीजें बड़ी तेजी से बदलने लगती।

दिव्य प्रेम को खोजना

कुछ ऐसे लोग होते हैं जो यह विश्र्वास करते हैं कि एक दिन एक विशिष्ट मनोभाव के साथ जग

पड़ना और यह कहना ही काफी है कि 'आह!' मैं कितना चाहता हूँ कि दिव्य 'प्रेम' के विषय में सचेतन हो जाऊं,' मैं कितना चाहता हूं कि दिव्य प्रेम को अभिव्यक्त करुं... । जरा ध्यान दो, पता नहीं कितनी बार, हजारों-लाखों बार मनुष्य अपने अन्दर प्रेम की मानवीय सहज वृत्ति के एक क्षीण कम्पन को अनुभव करता है और कल्पना करने लगता है कि यदि दिव्य 'प्रेम' मुझे हस्तगत हो जाता तो महान चीजें संसिद्ध हो सकतीं और वह कहता है , 'मैं दिव्य प्रेम के लिए प्रयास करने और उसे प्राप्त करने जा रहा हूँ' और हम उसका परिणाम देखेंगे। यह सबसे बुरा सम्भव पथ है। क्योंकि, ऐसी हालत में तुम अनुभूति के एकदम प्रारम्भ होने से भी पहले उसके परिणाम को नष्ट कर देते हो।

तुम्हें अभीप्सा और समर्पण की शुद्धता के साथ अपनी खोज का प्रारम्भ करना चाहिये, जिन्हें प्राप्त करना पहले ही अपने आप में काफी कठिन है। इस 'प्रेम' की अभीप्सा के लिए अपने-आपको तैयार करने के लिए ही तुम्हें अपने ऊपर बहुत कुछ कार्य करना होता है। यदि तुम बहुत सच्चाई के साथ, बहुत सीधे ढंग से अपने-आपको देखो तो पाओगे कि ज्यों ही तुम प्रेम के विषय में सोचना आरम्भ करते हो तो सर्वदा तुम्हारे अन्दर का तुच्छ विक्षोभ ही चक्कर काटना प्रारम्भ कर देता है। जो कुछ तुम्हारे अन्दर अभीप्सा करता है वह विशिष्ट स्पन्दनों को चाहता है। सच पूछो तो योग-मार्ग में बहुत आगे बढ़े बिना 'प्रेम' की अपनी धारणा से प्राणिक तत्त्व को, प्राणिक स्पन्दन को पृथक करना लगभग असम्भव है। जो कुछ मैं कह रही हूँ वह मानव -प्राणियों के श्रमसाध्य अनुभव पर आधारित है। तुम्हारे लिए जिस स्थिति में तुम हो, जैसे कि तुम हो, तुम्हारा यदि विशुद्ध दिव्य प्रेम के साथ सम्पर्क हो जाये तो वह तुम्हें बर्फ से भी अधिक ठण्डा प्रतीत होगा, अथवा इतनी अधिक दूर इतना ऊंचा मालूम होगा कि तुम सांस लेने में भी असमर्थ हो जाओगे, वह उस पर्वत-शृंग के जैसा होगा जहाँ तुम्हें ऐसा लगेगा मानों तुम जमे जा रहे हो और तुम्हे सांस लेने में भी कठिनाई होगी और जो कुछ तुम सामान्यतया अनुभव करते हो उससे वह कहीं दूर प्रतीत होगा। भागवत प्रेम यदि चैत्य या प्राणिक स्पन्दन से आच्छादित न हो तो उसे अनुभव करना मनुष्यों के लिए कठिन है।

मनुष्य भगवत्कृपा की धारणा कर सकता है, उस कृपा की, जो इतनी दूरस्थ, इतनी उच्च, इतनी निर्वैयक्तिक वस्तु है कि हर मनुष्य कृपा का अनुभव कर सकता है पर वास्तव में कठिनाई के साथ ही कोई दिव्य प्रेम को अनुभव करता है।

सच्चा प्रेम और मानवता

"अगर तुम मुझसे प्यार करते हो तो मैं तुमसे प्यार करता हूँ। अगर तुम मुझसे प्यार नहीं करते तो मैं भी तुमसे प्यार नहीं करता।" प्रेम की पहली मानव अभिव्यक्ति बस यही है और यह भी आगे जाती है, वे इसे भगवान के साथ सम्बन्ध पर भी लागू करते हैं। वे भगवान से कहते हैं

"अगर तुम वही करो जो मैं चाहता हूँ तो मैं कहूंगा कि तुम मुझसे प्यार करते हो और मैं भी तुमसे प्यार करुँगा। लेकिन अगर तुम वह न करो जो मैं चाहता हूं तो मैं बिलकुल नहीं मानूंगा कि तुम मुझसे प्रेम करते हो और मैं भी, निश्चय ही, तुमसे प्यार नहीं करुँगा। बस चीजें ऐसी ही हैं। इसका मतलब यह है कि यह व्यापार बन जाता है।...

और जो इससे भी अच्छा है वह यह कि अपने-आपसे यह न पूछो कि तुम्हें प्यार मिल रहा है या नहीं, तुम

उसके बारे में बिलकुल उदासीन रहो। और तब सच्चे प्रेम का आरम्भ होता है, तुम प्यार करते हो, क्योंकि तुम प्यार करते हो। इसलिए बिलकुल नहीं कि तुम्हें अपने प्यार का उत्तर मिलता है या दूसरा व्यक्ति भी तुमसे प्यार करता है। ये सब शर्ते हैं, प्रेम नहीं। तुम प्यार करते हो क्योंकि तुम अपने प्रेम की भावना से ही पूरी तरह सन्तुष्ट रहते हो। तुम प्यार करते हो क्योंकि तुम प्यार करते हो।
बाकि सब सौदेबाजी है, प्रेम नहीं।

एक बात निश्चित है कि तुम यह प्रश्न ही नहीं करते हो। यह प्रश्न बिलकुल बचकाना, बेतुका और तुच्छ मालूम होता है। जिस क्षण तुम सच्चे प्रेम का अनुभव करते हो, तुम्हें प्रचुर आनन्द और उपलब्धि प्राप्त हो जाती है और तुम्हें किसी उत्तर की जरुरत बिलकुल नहीं रह जाती। तुम प्रेम करते हो बस, और तुम्हें प्रेम की सन्तुष्टि की प्रचुरता प्राप्त होती है। वहाँ किसी परस्पर-विनिमय की जरुरत नहीं रहती।

मैं तुमसे कहती हूँ कि जब तक मन में या भावों में या संवेदनों में हिसाब-किताब रहता है, जब तक कोई हिसाब-किताब रहता है, कम या ज्यादा, स्वीकृत हिसाब-किताब तब तक यह प्रेम नहीं, सौदेबाजी है।...

जिसे लोग 'प्रेम' कहते हैं उससे यह सच्चा प्रेम बहुत, बहुत दूर है-एक लम्बा रास्ता।

चैत्य पुरुष की निष्काम निःस्वार्थ क्रिया संसार में चैत्य चेतना के सबसे सुन्दर रुपों में से है लेकिन व्यक्ति मानसिक क्रिया-कलाप की सीढ़ी पर जितना ही उठता जाता है यह क्रिया उतनी ही विरल होती जाती है। क्योंकि बुद्धि के साथ ही आते हैं कौशल और चालाकियाँ, भ्रष्टाचार और हिसाब-किताब। उदाहरण के लिए जब एक गुलाब खिलता है, तो वह सहज भाव से खिलता है, केवल सुन्दर होने के आनन्द के लिए, सुगन्ध देने, जीवन के आनन्द को अभिव्यक्त करने के लिए खिलता है। वह हिसाब-किताब नहीं करता, उसे इस सबसे कोई लाभ नहीं उठाना होता है। वह ऐसा सहज भाव से करता है, होने के, जीने के आनन्द में करता है। मनुष्य को लो, कुछ थोड़े से अपवादों को छोड़ कर, जैसे ही उसका मन सक्रिय होता है, वह अपनी सुन्दरता और चालाकी से लाभ उठाना चाहता है। वह उससे कुछ प्राप्त करना चाहता है, लोगों की प्रशंसा या इससे कहीं अधिक घिनौनी चीज पाना चाहता है। फलतः चैत्य-दृष्टि से गुलाब मनुष्य से ज्यादा अच्छा है।

हाँ यदि तुम सीढ़ी पर और ऊंचे चढ़ो और गुलाब जिस चीज को अचेतन अवस्था में करता है, उसी को तुम सचेतन रुप से करो, तो यह बहुत ज्यादा सुन्दर होगा। लेकिन चीज वही होनी चाहिये। सौन्दर्य का बिना हिसाब के, सहज रुप में खिलना, केवल सत्ता के आनन्द के लिए यह चीज (कभी-कभी, हमेशा नहीं) छोटे बच्चों में होती है। दुर्भाग्यवश माता-पिता और वातावरण के असर से बच्चे बहुत छोटी अवस्था में ही हिसाब करना यानी, स्वार्थी होना सीख लेते हैं।

तुम्हारे पास जो है या तुम जो करते हो उसके बदले कुछ लाभ उठाने की इच्छा संसार में सबसे भद्दी चीजों में से है और यह सबसे ज्यादा व्यापक है। यह इतनी व्यापक है कि मनुष्य के अन्दर प्रायः सहज बन गयी है। इस तरह हिसाब-किताब करने और लाभ की इच्छा से बढ़ कर भागवत प्रेम से पूरी तरह विमुख कर देने वाली चीज और कोई नहीं है।

अग्निशिखा अक्टूबर 2016

पांडिचेरी की ओर

रवीन्द्र

1 मार्च 1914 को श्रीमाँ लिखती

"जो लोग तेरे लिए और तुझमें ही जीवन धारण करते हैं, वे भौतिक परिस्थितियां, जलवायु, अभ्यास, परिपार्श्व आदि बदल जाने पर भी सर्वत्र एक ही वातावरण पाते हैं, वही वे अपने अंदर बनाये रखते हैं, अपने विचारों को सदा तुझमें संयुक्त करके उसी वातावरण को लिए रहते हैं। सभी जगह वे अपना घर अनुभव करते हैं, अर्थात् तेरा घर अनुभव करते हैं। उन्हें नयी वस्तुओं और नये देशों के अदृष्टपूर्व तथा वैचित्र्य पूर्ण रूपों में कुछ आश्चर्य अनुभव नहीं होता। उन्हें प्रत्येक वस्तु में तेरी ही उपस्थिति प्रत्यक्ष रूप में अनुभव होती है और तेरा शाश्वत वैभव जो उन्हें सदा अनुभव होता रहता है, रेत के छोटे-से कण में भी दिखाई पड़ता है। समस्त पृथ्वी तेरा स्तुतिगान करती है, अंधकार, दुःख और अज्ञान के होते हुए भी इन सबके बीच में हम तेरे प्रेम का गौरव अनुभव कर सकते हैं और इसके साथ सदा तथा सर्वत्र आंतरिक संबंध जोड़ लेते हैं।

प्रभु, मेरे मधुर स्वामी, यह सब मैं लगातार ही इस जहाज पर अनुभव कर रही हूँ जो मुझे एक अद्भुत शक्ति का धाम प्रतीत होता है, ऐसा मन्दिर प्रतीत होता है जो तेरी शोभा के लिए निष्क्रिय अवचेतना की लहरों पर तैर रहा है,जिस अवचेतना को हमें जीतना है तथा तेरी दिव्य उपस्थिति के प्रति जाग्रत करना है।

वह दिन कितना धन्य था जब मैंने तुझे जाना, ओ अकथनीय सनातन प्रभु! वह दिन और दिनों से कितना धन्य होगा जब पृथ्वी अंत में सचेतन होकर तुझे जान लेगी और केवल तेरे लिए ही जीवन धारण करेगी"।

अब मीरा अपने लक्ष्य के निकट पहुँच रही हैं। वे कहती हैं ,

"अपने प्रस्थान के समय से सदा अधिकाधिक ही, हम समस्त वस्तुओं में तेरा दिव्य हस्तक्षेप देख रहे हैं, सर्वत्र ही तेरा विधान अभिव्यक्त हो रहा है और मुझे इस बात का आंतरिक विश्वास हो जाना चाहिए कि यह सहज और स्वाभाविक है,जिससे कि मैं आश्चर्य पर आश्चर्य न अनुभव करती रहूँ।"

"किसी भी क्षण मुझे ऐसा नहीं प्रतीत होता कि मैं तुझसे बाहर रहती हूँ और क्षितिज मुझे इतने विशाल और गहराइयाँ इतनी आलोकित और साथ ही इतनी अथाह पहले कभी प्रतीत नहीं हुई। दिव्य गुरू, वर दे, कि हम पृथ्वी परअपने कार्य को अधिकाधिक जान जायें और अधिक से अधिक अच्छी तरह संपन्न कर सकें,हम अपने अंदर की समस्त शक्ति का पूर्णतया उपयोग करें, और तेरी सर्वोच्च उपस्थिति हमारी आत्मा की नीरव गहराइयों में हमारे समस्त विचारों,भावों तथा कर्मों में उत्तरोत्तर पूर्ण रूप से व्यक्त हो। तुझे इस प्रकार संबोधन करना मुझे कुछ विचित्र सा लगता है, क्योंकि तू ही तो मेरेअंदर निवास करता है, विचार करता है और प्रेम करता है।"

अब आयी मार्च की 29 तारीख। जगत के आध्यात्मिक इतिहास का वह महान दिवस जब धनुषकोटि से होती हुई मीरा पांडिचेरी आ पहुंची। (शायद इसके बाद से हम मीरा न कहकर श्रीमाँ कहना शुरू कर सकते हैं।) वे कहती हैं-

"ओ तू जिसे हमें जानना चाहिये,समझना चाहिये, उपलब्ध करना चाहिए, पूर्ण चैतन्य, सनातन नियम, तू, जो हमारा पथ-प्रदर्शन करता है, हमें आलोकित, निर्धारित एंव प्रेरित करता है, ऐसी कृपा कर कि ये निर्बल आत्माएं सशक्त हो सकें और भीरू पुनः आश्वस्त हो उठें। इस सबको मैं तेरे हाथों में उसी प्रकार सौपती हूँ जिस प्रकार मैं, हम सबकी भवितव्यता तुझे सौंपती हूँ।"

29 मार्च 1914 को तीसरे पहर श्रीमाँ श्रीअरविन्द से मिलने आईं। वे एकदम स्तब्ध रह गईं, क्योंकि उन्होंने देखा था कि वे जिन्हें अपने अंतर्दर्शनों में देखा करती थीं, जिन्हें उन्होंने श्रीकृष्ण का नाम दिया था,वे ही उनका स्वागत करने के लिये खड़े हैं। हम उस दृष्य की कल्पना भी नहीं कर सकते। इसके बाद 30 मार्च को श्रीमाँ लिखती हैं:

"उनकी उपस्थिति में जो तेरे पूर्ण सेवक हैं,जो तेरी उपस्थिति की पूर्ण चेतना उपलब्ध कर चुके हैं मैंने यह अतिशय रूप में अनुभव किया कि मैं अभी उससे, जो मैं चरितार्थ करना चाहती हूँ, दूर, बहुत दूर हूँ। और अब मैं जान गई हूँ कि जिसे मैं उच्चतम, श्रेष्ठतम और पवित्रतम समझती हूँ, वह उस आदर्श की तुलना में, जिसे अब मुझे मानना होगा, अंधकार और अज्ञान है।"

पुस्तक-श्वेत कमल से

प्र. माँ, मुझे क्या करना चाहिये कि मेरे अन्दर की अभीप्सा की अग्नि कभी न बुझने पाये?

उ. हम इस अग्नि को अपनी सभी कठिनाइयों, अपनी समस्त कामनाओं, समस्त अपूर्णताओं की हवि देकर प्रज्ज्वलित रखते हैं। हर सुबह और शाम जब तुम मेरे पास आओ तो तुम्हें मुझसे यह माँगना चाहिये कि मैं तुम्हारे हृदय में इस अग्नि को प्रज्ज्वलित रखूँ और तुम्हें मुझे इन सब चीजों को ईंधन के रूप में अर्पित कर देना चाहिये।

श्रीमाँ

‘चैत्य पुरुष’ से क्या अभिप्राय: है

डा. ए. एस. दलाल

चैत्य पुरुष से मेरा अभिप्राय है अन्तरतम आत्म-सत्ता और आत्म-प्रकृति से। इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग सामान्य भाषा में नहीं होता बल्कि यदि इसका इस रूप में प्रयोग होता भी है तो उसमें बहुत धुंधलापन रहता है और वह अन्तरात्मा के ठीक स्वरूप से बहुत हटा हुआ होता है या फिर उसके अर्थ को इतनी व्यापकता दे दी जाती है जो अर्थ को उसके दायरे से बहुत परे ले जाता है। मन का कोई भी असामान्य या अतिसामान्य या रहस्यपूर्ण व्यापार हो तो उसे चैत्य की संज्ञा दे दी जाती है।

यदि किसी व्यक्ति का दोहरा व्यक्तित्व हो जो अदलता-बदलता रहता हो या मरणासन्न व्यक्ति का आभास देने वाली कोई चीज़ उसके मन-प्राण-कोष की कोई चीज़ या उसके विचार का कोई रूप उसके मित्र को अचम्भे में डालती हुई उसके कमरे में विचरती दिखाई दे या कोई दुष्ट प्रेत शैतानी में आकर घर की चीज़ में गड़बड़ करे तो इस सब को चैत्य व्यापार के अन्तर्गत मान लिया जाता है और समझा जाता है कि यह चैत्य अनुसन्धान का उपयुक्त विषय है, जब कि ये चीज़ें चैत्य से किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं रखतीं। फिर स्वयं योग में भी ऐसा बहुत कुछ है जो रहस्यमय है, मन-प्राण व सूक्ष्म भौतिक के न दीखने वाले स्तरों के व्यापार हैं, अन्तर्दर्शन हैं, प्रतीक हैं, अनुभूतियां हैं, इनका एक बड़ा क्षेत्र है, ये सब मिले-जुले, बहुधा अस्तव्यस्त, आभासी, भ्रमात्मक होते हैं, और ये आत्मा और उसकी उपरितलीय करणात्मक सत्ता के बीच पड़ने वाले मध्यवर्ती प्रदेशों से, बल्कि उसके भी बाह्यतम अंचल से सम्बन्ध रखते हैं। मध्यवर्ती क्षेत्र की यह सब अव्यवस्था चैत्य के रूप में स्वीकार कर ली जाती है और उसे आध्यात्मिक खोज का अवर कोटि का और संशयास्पद एक विभाग समझा जाता है और फिर यहां मानसिक भावापन्न कामनात्मा, जो मनुष्य में प्राण-तरंग की, उसकी जीवन-शक्ति की रचना है,और अपनी ही तृप्ति की खोज में लगी रहती है उसके, और सच्ची आत्मा, जो अग्नि-भगवान की चिनगारी है, भगवान का एक अंश हैं उसके, बीच निरंतर घपला बना रहता है। चूंकि अन्तरात्मा, चैत्यपुरूष अपनी अभिवृद्धि और अपने अनुभवों के लिए मन, प्राण और शरीर का प्रयोग करता है इससे इसे इस रूप में देखा जाता है मानों यह मन-प्राण का ही मिश्रण-भर हो या इनका कोई सूक्ष्म अधःसार हो, वस्तुत: योग में यदि हम इन सभी अव्यवस्थाओं को चैत्य-वस्तु या चैत्य-क्रिया के रूप में स्वीकार कर लें, तो हम एक घपले में जा पड़ेंगे और इसमें से हमें कुछ प्राप्ति होने वाली है नहीं।

ये सब चैत्य के केवल आच्छादन-पट हैं, अन्तरात्मा अपने-आप में एक अन्तःस्थ देवता है जो मन-प्राण-शरीर से महान है। ऐसी चीज़ है कि यदि वह अपने उपकरणों के धुंधलाने वाले व्यापारों से एक बार मुक्ति पा जाये तो वह भगवान के साथ, **विश्वात्मा** के साथ, आत्मा के साथ तुरन्त सीधा सम्पर्क स्थापित कर सकती है।

योग की परिभाषा में चैत्य का आशय है प्रकृति में स्थिर आन्तरात्मिक तत्त्व विशुद्ध चैत्य या दिव्य केन्द्र जो मन, प्राण और शरीर के पीछे स्थित होता है (यह अहं नहीं होता) किन्तु जिसके विषय में हमें केवल धुंधली-सी जानकारी है। यह भगवान का एक अंग है तथा प्रत्येक जन्म में स्थायी रूप से रहता है और अपने बाह्य उपकरणों द्वारा जीवन का अनुभव लेता रहता है। ज्यों-ज्यों यह अनुभव बढ़ता जाता है

त्यों-त्यों वह(अन्तरात्मा) विकसित होते हुए ऐसे चैत्य व्यक्तित्व को प्रकट करता है जो हमेशा शिव, सत्य और सुन्दर पर आग्रह रखता है। अन्त में, वह प्रकति को भगवान की ओर मोड़ने के लिए पर्याप्त तैयार और शक्तिशाली हो जाता है। इसके बाद वह मानसिक, प्राणिक और भौतिक पर्दे को चीर कर और पूरी तरह से सामने आकर सहज वृत्तियों को शासित और प्रकृति को रूपान्तरित कर सकता है। उसके बाद प्रकृति अपने-आपको अन्तरात्मा पर नहीं थोपती अपितु अन्तरात्मा, पुरूष, प्रकृति पर अपने आदेशों को लागू करता है।

लोग यह नहीं समझते कि चैत्य पुरुष से मेरा मतलब क्या है क्योंकि 'साइकिक' शब्द अंग्रेजी में अन्तर मन, अन्तर प्राण या अन्तर शरीर में से किसी भी चीज़ के लिए या किसी असामान्य चीज़ के लिए अथवा गुह्य व्यापारों को भी बहुधा साइकिक कहा जाता है। सत्ता के इन विभिन्न भागों का विभेद अज्ञात है। यहाँ तक कि भारत में भी उपनिषदों का प्राचीन ज्ञान,जिसमें इनका विभेद किया गया है, अब लुप्त हो गया है। जीवात्मन चैत्य पुरुष (पुरूष अन्तरात्मन) मनोमय पुरुष, प्राणमय पुरुष, सभी एक साथ मिला-जुला दिये जाते हैं।

पुस्तक - चैत्य पुरूष

तुम्हें अपना काम अपनी अधिक से अधिक योग्यता के साथ चुपचाप करते जाना चाहिये। केवल काम के बारे में सोचो, इधर-उधर की राजनीति इत्यादि के बारे में नहीं, जिसका कोई महत्व नहीं है।

कब सीखेगा मनुष्य !

-श्रीमाँ

जानते हो बच्चों, फूल नीरव तथा उदार भंगिमा के साथ बहुत ही गहरा प्रेम और शांत मधुरिमा फैलाते हैं। इनकी तुलना नहीं की जा सकती। प्रकृति की यही गति दुःख दर्द से जीर्ण-शीर्ण जगत में संतुलन लाती है। मनुष्य यदि कोशिश करे तो देखेगा कि निश्चित रूप से भौतिक स्तर पर फूल कितना सामंजस्य रखते हैं। यही चीज विपरीत गति को समाप्त कर धरती पर एक सन्तुलन लाती है और यही सामंजस्य और सन्तुलन मानव जीवन को सार्थक बनाते हैं....

वास्तव में पुष्प मनुष्य से कहीं अधिक महान हैं, वे होते हैं छोटे, लेकिन अपने लिए कुछ भी बटोर कर नहीं रखते; बस देते हैं, देते हैं, देते ही चले जाते हैं। उधर आदमी बस लेता है,लेता हैऔर लेता ही चला जाता है। औरों के लिए कुछ भी नहीं छोड़ना चाहता। मानव अपने अहंकार को ही धुरी बना लेता है, और सबसे बुरी बात यह है कि वह दूसरों से जितना भी पा ले, कभी सन्तुष्ट नहीं होता।

उसके अन्दर कृतज्ञता की भावना की कमी है। वह सोचता है कि क्रम विकास की सीढ़ी पर वह ऊपर खड़ा है, इसलिए सारी धरती पर उसी का अधिकार है। वाहियात! चूँकि 'प्रकृति' 'स्वयं को इतने सहज रूप में दे देती है और मनुष्य की इस विपरीत गति को समाप्त कर देती है कि धरती अभी तक जीने लायक बनी हुई है। मन के साथ-साथ आयी अधिकार की भावना,' '**मैं**' की अहंकारिक भावना जो मनुष्य को नीचे, बहुत नीचे, खींच ले जाती और उसे तुच्छ और स्वार्थी बना देती है। उसकी शिक्षा,उसकी खोजें उसकी वैज्ञानिक उपलब्धियाँ, सभी लाभ, जो उसकी पहुँच में होते हैं इन सबने उसे अमीर, आरामदेह खतरों से सुरक्षित रखा है, लेकिन इसी चीज ने उसे दम्भी, अहंकारी और विकृत भी बना डाला। बहरहाल, उसके इतने सारे अन्वेषणों ने उसे मानव के सच्चे अर्थ में मानव नहीं बनाया। कितनी दरिद्र है मनुष्य की यह अवस्था। भगवान ने ऐसा कभी नहीं चाहा होगा। इतना विकृत है कि औरो को धोखा देने में मज़ा लेता है। इस बात की उसे जानकारी तक नहीं होती, कि वह ख़ुद को ही धोखा देता रहता है। कितनी दयनीय है, मनुष्य की अवस्था। अपनी इन तुच्छ गतियों से ऊपर उठना कब सीखेगा वह?

श्रीमाँ स्वयं के बारे में

संकलन : विमला गुप्ता

श्रीमाँ बताती हैं- दुर्घटनाओं के विषय में मेरे अनेकानेक निजी अनुभव हैं। कई बार अगले क्षण के खतरे का पूर्वाभास मुझे हुआ है। एकदम आखिरी क्षण, अचानक मुझे सूचित कर दिया जाता। एक बार पेरिस में मैं बुलवर्ड सेंट माइकल पार कर रही थी, मैं पूर्णतया अपने में निमग्न थी। मैंने तय किया था कि कुछ निश्चित महीनों में मैं 'चैत्य उपस्थिति' (psychic presence) से एकत्व प्राप्त करूंगी। उन दिनों मेरे अन्दर न तो दूसरा विचार था, न दूसरी दिलचस्पी। मैं लक्जमबोगं गार्डन के समीप रहती थी और हर शाम वहाँ घूमने आया करती थी। वहाँ एक ऐसा चौराहा है जिसे ऐसी मनः स्थिति में कभी पार नहीं करना चाहिए जब व्यक्ति इतना अन्तर्मुखी हो। यह अक्ल की बात नहीं है और ऐसी ही एक शाम जब मैं उसे पार कर रही थी मुझे सहसा एक जोर का झटका लगा मानो किसी ने मुझे जोर का धक्का दिया हो, मानो किसी ने मुझ पर चोट की हो और मैं खुद ब खुद पीछे की ओर कूदी और सहसा ही एक ट्राम उधर से गुजर गई। इस ट्राम ने मेरे सुरक्षा मंडल (Aura of protection) को धक्का दिया था। उस समय यह मंडल मेरे चारों ओर बड़ी मजबूती से बुना हुआ था। मैं गुह्य विद्या में काफी गहरे जा चुकी थी और जानती थी इसे कैसे बनाए रखना चाहिए। उस समय उस सुरक्षा मंडल ने ही धक्का खाया था और मुझे यथार्थ में पीछे धकेल दिया था। ऐसी कितनी ही घटनाएँ मेरे स्मृति पटल पर हैं।

इस प्रकार की सुरक्षा -रचना कई विभिन्न साधनों से आ सकती है। कभी किसी आवाज ने मुझे सूचित किया, कभी किसी नन्हीं सत्ता ने और कभी इस मण्डल ने। इस क्षमता को निर्मित और विकसित करने का एक तरीका है जैसा कि सभी चीजों के लिए होता है। जिस प्रकार शरीर की मांसपेशियों को कसरत के द्वारा मजबूत बनाया जाता है इसी तरह के सतत अभ्यास की जरूरत हर क्षेत्र में होती है। कुछ सूक्ष्म क्षमताओं को साधने के लिए एक बिलकुल 'सही धारणा' निर्मित करनी होती है और फिर उसके स्पन्दनों से आदान-प्रदान का सम्बन्ध होता है और तब एकाग्रता से अभ्यास किए जाते हैं। जैसे किसी उपादान के द्वारा देखने का अभ्यास, एक आवाज के द्वारा सुनने और दूरी से देखने का अभ्यास। इन अभ्यासों के लिए महीनों धीरता से प्रयत्न किये जाते हैं और ऐसे प्रयत्न मैंने अनेक बार किये हैं। शरीर से बाहर निकलना मेरा बहुत पुराना अभ्यास है। गुह्य विद्या के अनुशासन में इस प्रकार के अनुभवों से सम्पर्क बार-बार जुड़ जाते हैं।

एक बार मैं कुछ बच्चों के साथ एक पहाड़ी रास्ते पर जा रही थी। मैं आगे-आगे थी कि अचानक मेरी किसी दूसरी आँख ने आगे के चट्टान पर एक बड़े साँप को बैठे देखा। यद्यपि रास्ता

अत्यन्त संकरा होने के कारण मैं अपने कदमों पर ध्यान गड़ाए आगे बढ़ रही थी। मैंने अहिस्ता से अपना हाथ उठाया, सब वहीं रुक गए। इस पूर्वाभास के कारण मैं अपने पीछे आने वाले बच्चों को बिना धक्का पहुँचाए सावधान कर सकी। 'ठहरो, चुपचाप खड़े हो जाओ, हिलो मत।' साँप को सहसा सामने देखकर जो दहशत पैदा होती उससे हम लोग बच गये थे।

इसी प्रकार तमिलनाडू के एक गाँव में, जिसका नाम अरियनकुप्पम था, मुझे अपने अगले ही कदम पर बैठे कोबरे की उपस्थिति का पूर्वाभास हो गया था। जैसे किसी ने मुझे सावधान किया हो, 'संभल

जाओ।' यह एक बहुत बड़ा काला कोबरा था। पर अगले ही क्षण वह रेंगता हुआ नदी में चला गया और उसे पार करने लगा। क्या खूबसूरती थी, खुला हुआ फन, सीधा सर लिए, वह एक राजा की तरह तैर रहा था।

इसी प्रकार योग के अभ्यास से अपनी बहुत सी क्षमताओं को विकसित किया जा सकता है। मैं ऐसे बहुत से लोगों को जानती हूँ जिन्होंने योग के द्वारा लेखन और पेटिंग की क्षमता का विकास किया था। मैं दो उदाहरण दे रही हूँ -

एक लड़की मामूली नर्तकी थी। वह शिक्षित भी नहीं थी लेकिन जब उसने योग का अभ्यास शुरू किया तो उसके नृत्य में गहराई और हाव-भाव में सौन्दर्य का पुट आ गया और उसने बहुत सुन्दर रचनाएँ भी लिखना शुरु कर दिया।

दूसरा उदाहरण एक लड़के का है। वह एक राजनीतिज्ञ का बेटा था और उसे भी राजनीतिज्ञ बनने का प्रशिक्षण दिया जा रहा था। वह बहुत ही शान-शौकत से रहता था। लेकिन ज्यों ही उसने योग का व्यावहारिक अभ्यास शुरू किया, वह बहुत सुन्दर, प्रेरणायुक्त ड्राइंग-पेटिंग करने लगा, जिनमें अंतर्ज्ञान की झलक थी तथा चरित्र मे प्रतीकात्मकता थी। बाद में वह एक बड़ा कलाकार बना।

स्वतंत्रता...! मुझे याद है किसी के इस शब्द के प्रयोग करने पर एक वृद्ध गुप्त विद्या-विशारद ने उसे एक सुन्दर उत्तर दिया था। उस व्यक्ति ने कहा मैं स्वतन्त्र होना चाहता हूँ। मैं स्वतन्त्र स्वभाव वाला हूँ और तभी मेरा अस्तित्व है जब मैं स्वतन्त्र हूँ। उन वृद्ध ने उत्तर दिया, इसके मायने यह हुए कि कोई तुम्हें प्यार नहीं करेगा। क्योंकि यदि कोई प्यार करता है तो तुरन्त तुम उस प्यार पर निर्भर हो जाते हो।'

यह एक सुन्दर उत्तर है, क्योंकि वास्तव में प्रेम ही एकता की ओर ले जाता है। यह एकता ही है, जो स्वतनत्रता की सही अभिव्यक्ति है। जो लोग स्वतंत्रता के नाम पर उसका दावा करते हैं, वे पूरी तरह सच्ची स्वतन्त्रता से अपनी पीठ मोड़ लेते हैं क्योंकि वे प्रेम को नकारते हैं।

किसी धर्म की महानता और शक्ति को लोग उसके अनुगामियों की संख्या से ही निर्णीत करते हैं। यद्यपि यह वास्तविक महानता नहीं है।

आध्यात्मिक सत्य की महानता संख्या पर निर्भर नहीं है। मैं एक नए धर्म के मुखिया को जानती थी और उन्हें एक बार कहते हुए सुना, अमुक धर्म को स्थापित होने में इतने सौ वर्ष लगे... और अमुक धर्म को इतने सौ वर्ष...। पर हमारे धर्म के पचास वर्षों में ही चालीस लाख अनुयायी बन गए। देखो, हमारा धर्म कितना महान है। ये धर्म अपनी महानता अपने अनुयायियों की संख्या से मान सकते हैं। लेकिन सत्य हमेशा सत्य ही रहेगा, चाहे, उसका एक भी अनुयायी न हो जैसा कि मैंने बताया था मेरा स्वभाव जीवन के हर पक्ष, हर पहलू, व पदार्थ को बारीकी से अवलोकन करने का रहा है। केवल मनुष्य-समाज ही नहीं, पशु-पक्षी तथा पौधों द्वारा भी अपने चारों ओर के वातावरण और किसी भाव-भंगिमा, प्रतिक्रिया करने का ढंग आदि का मैं सदैव निरीक्षण किया करती थी। इस तरह तुम भी बहुत कुछ सीख सकते हो। हर मिनट तुम कुछ सीख सकते हो, प्रगति कर सकते हो। उदाहरण के तौर पर मानो तुम किसी गली में खड़े हो यद्यपि गली में खड़ा होना कोई खुशी की बात नहीं, फिर भी यदि तुम वहाँ हो और अपने चारों ओर दृष्टि घुमाकर अवलोकन करना चाहो कि कैसे कोई खड़ा है, कैसे चल रहा है अथवा खरीद रहा है, कैसे रोशनी पदार्थों पर खेल रही है, कैसे वृक्ष का छोटा सा भाग सुन्दर लैंडस्केप प्रतीत होने लगा है, कितनी छोटी-छोटी बातें सीखते हो। केवल सीखते ही नही, वह तुम्हारी स्मृति पर छाप छोड़ जाता है।

एक बार जब मैं ऐसे ही एक गली में घूम रही थी, कुछ जानने की चाह में इधर-उधर देख रही थी। मैंने अपने सामने एक स्त्री को चलते हुए देखा और सचमुच उसकी चाल अद्भुत सुन्दर थी। सहसा ही मेरे सामने एक ग्रीक संस्कृति का मूल रूप उजागर हो गया कि कैसे ये मानवी आकार सुन्दरता को व्यक्त करने के लिए ऊपर से उतर जाते हैं। सिर्फ एक स्त्री के चलने के ढंग ने मुझे वह अनुभूति दी जो आज भी मेरी स्मृति में अंकित है।

पेरिस में एक बाग था जिसके अधिकारियों ने एक बार एक खूँखार शेर को पकड़वाकर एक पिंजरे में बन्द कर दिया था। पिंजरे के पीछे एक दरवाजा था जहाँ वह छुपकर बैठा रहता था, खासतौर पर उस समय, जब वहाँ आगन्तुक घूमने आते थे। मैंने एक दिन उसके पिंजरे के पास जाकर कुछ बोलना शुरु किया (जानवर बोली हुई भाषा के प्रति बहुत संवेदनशील होते हैं) मैंने बड़ी कोमलता से शेर से कहा, तुम बहुत सुन्दर हो। तुमने अपने को क्यों छुपा रखा है। हमें तुम्हें देखना बड़ा अच्छा लगेगा। मैं यह शब्द दुहराती रही और वह सुनता रहा। धीरे-धीरे उसने गर्दन घुमाई और मुझे तिरछी नजर से देखा और फिर अपने पंजों को आगे लाकर अपनी नाक की नोक को पिंजरे पर रख दिया मानो कह रहा हो कि कोई तो मुझे समझने वाला मिला। वस्तुतः इस तरह के प्रयोगों से हर कोई अपने इन्द्रिय बोध व संवेदनशीलता को अधिक विकसित कर सकता है।

जरा कल्पना करो उन पौधों की जिन्हें अनदेखा कर दिया जाता है, यदि उनके लिए कोई प्रशंसा सूचक शब्द कहता है तो वे अपना सिर गौरव से उठा लेते हैं।

जापान प्रवास के दौरान फूल-पौधों के प्रति मेरी घनिष्ठता अत्यन्त गहन हो गई थी। टोकियों में मेरे पास एक बगीचा था, जिसमें मैंने कुछ साग–सब्जियाँ उगा रखी थीं। जब मैं उन्हें देखने के लिए घूम रही होती और भोजन के लिए कुछ सब्जियाँ तोड़ने का प्रयास करती तो उनमें से कुछ सहसा कहतीं, नहीं नहीं, और कुछ मानों कहतीं 'हमें ले लो, हमें ले लो।' यद्यपि यह बात आम नहीं है पर पौधों में प्रत्युत्तर देने की क्षमता होती है, यदि कोई उनकी सत्ता से एकत्व अनुभव करे। मैं पौधों को बहुत प्यार करती थी और उन्हें पानी पिलाते समय उनमें चेतना की मात्रा भी पहुँचाती थी। फ्रांस में भी मेरा ऐसा अनुभव रहा था। वहां भी मेरे पास एक बागीचा था जिसमें कुछ पौधे और फूल बड़ी खुशी से अपने को तोड़े जाने की अनुमति देते थे और कुछ होते जो कह उठते- 'हमें मत छुओ, हमें मत छुओ।'

दिव्य आगमन
(1878-1973)

लघु कथा

जगदीश

कहानी के अनुसार सरस्वती और गंगा नदियों का समूचा तटवर्ती देश मनु के वंशजों के अधिकार में आ चुका था। तब एक समय वहाँ प्रभंजन नाम का राजा हुआ। राजा बड़ा भला और प्रतापी था। पर एक दिन आखेट में उसके हाथ से एक मृगी मारी गयी जो सिर झुकाये अपने छोटे से, बच्चे को स्तन-पान करा रही थी।

मृगी ने तीर लगते ही चीत्कार के साथ गिरते हुए कहा, "राजा, तेरा आश्रय जान कर तो मैं निर्भय होकर अपना मातृधर्म पाल रही थी और तू ही मेरी हत्या करे। अवश्य तेरा विवेक खो चुका है और बुद्धि खोई हुई है। मेरा श्राप है कि तू अब इसी वन में कच्चे मांसभोजी बाघ की पशु योनि भोग"।

राजा प्रभंजन काँप गया। उसने सच्चे अनुताप के साथ मृगी से बहुत-बहुत क्षमा माँगी और उसे विश्वास दिलाया कि बच्चे को स्तनपान कराते हुए उसने सचमुच नहीं देखा था। तब मृगी को दया हो आयी। लोक-हित की भावना से वह टूटते स्वर में बोलीः **"पाप अछूता नहीं छोड़ता राजा! पर जिस दिन तुझे इस बोध का साक्षात्कार होगा कि जीवन सत्य और धर्म के पालन पर टिका है, बल-वैभव और नीति-चातुरी पर नहीं, उसी दिन अपना पूर्व रूप तुझे फिर प्राप्त हो जायेगा"**।

फिर वर्ष पर वर्ष बीतते गये और राजा प्रभंजन बाघ का जीवन जीता हुआ मन ही मन घुटता रहा कि इस हिंस्र योनि में तो और नए-नए पाप ही संचित होंगे, अपना पूर्व रूप भला अब कैसे पा सकेगा! अचानक गौलों का एक यूथ धान और धन की सुविधा देख उसी वन के बाहर आकर ठहरा, और एक गौ संयोग से एक दिन उधर आ निकली।

कैसी सुन्दर कमनीय गौ ! जैसे दूसरी कामधेनु हो ! बाघ देखते ही झपटाः "आज मेरा भोजन तू बनेगी"। गौ जहाँ की तहाँ रुक गयी। उसने बाघ की ओर आँखें उठा कर देखा, फिर गम्भीर और उदास हो गयी ।

बाघ उस पर टूटने को ही था कि वह धीरे से बोलीः "वनराज, मेरा समय आ गया। मुझे शोक क्यों होगा ! पर चार दिन हुए, मैंने एक बच्चे को जन्म दिया है और पहला ही होने से मुझे उसका बड़ा मोह है। मेरे स्तन को छोड़ कुछ और अभी उसका आधार भी नहीं। अनुमति दे दो तो उस से अन्तिम बार भर –आँख देख पाऊँ!"

बाघ हँसा। गौ ने अप्रतिहत भाव से कहाः "मेरा विश्वास करो, बच्चे को दूध पिला कर और सखियों के हाथों उसे सौंप कर मैं लौट आऊँगी। मृत्यु एक दिन होगी ही, तब आज भी उससे क्यों डरूँ"।

बाघ को गौ सत्य बोलती लगी। उसने विश्वास करके उसे जाने दिया।

गौ ने यूथ में जाकर अपनी सारी ममता उँड़ेलते हुए बच्चे को स्तन दिया और उसे खूब प्यार करने लगी। उसकी आँखें बार-बार छलछला आतीं और प्यार करते से वह खो-खो रहती। बच्चे ने यह देखा तो स्तन छोड़ कर अकबकाते हुए माँ से पूछा। रूँधे कण्ठ से माँ बोलीः "तू दूध पी बेटा, आज के बाद यह फिर

न होगा। उधर बाघ भूखा बैठा है, मैं जल्दी ही लौटने का वचन देकर आयी हूँ।" बच्चा सुनकर मुस्कुराया , फिर एक दम से मचला, "माँ ! मैं भी साथ चलूँगा। माँ जैसा आश्रय, माँ जैसा स्नेह, और माँ-जैसा देवता तो परलोक में भी नहीं। तू न होगी तो मैं तो यों भी मर ही जाऊँगा"।

गौ ने समझाया, "ना बेटा, मृत्यु जिसकी आती है उसी को जाना होता है। तू यहीं, सुख से रह। देख, जल के आस-पास या वन में फिरने का कभी प्रमाद न करना, न अच्छी घास के लोभ से किसी दुर्गम स्थान में ही जाना। जो विश्वास के हों उन पर भी बहुत विश्वास न करना, और जिस किसी पर तो करना ही नहीं।अपना धर्म स्मरण रखना और मुझे याद करके दुखी न होना । जीवन के यात्रा-पथ पर जो आया उसे जाना ही होगा"।

विह्वल हो आयी गौ फिर उसे लेकर सखियों में गयी। सारी घटना सुना कर सब के गले लग के उसने विदा ली और अपना चाँद-सा लाड़ला उनके आश्रय कर दिया। चलने लगी तो आश्चर्य और विषाद में डूबी सखियाँ बोलीं "अरी, पर सत्य के मोह में बाघ के आगे फिर जाना तो अधर्म होगा ! ऋषियों ने कहा है कि आततायी से प्राण रक्षा में असत्य बोलना भी सत्य है और सत्य भी असत्य"।

गौ ने वीर भाव से कहाः "हाँ बहन, वह दूसरों की प्राण रक्षा के लिए है, आत्मरक्षा के लिए असत्य में जाना पाप ही होगा।

संसार सत्य पर प्रतिष्ठित है, उसी पर सारा धर्म भी टिका है। परम कठिन होते भी जिसका पालन सदा अपने हाथ है, उस सत्य की टेक मैं न छोड़ूँगी। मुझे विदा दो"।

मेरी आँखों में आज भी फिर रहा है कि जगन्नाथ स्वामी ने इतना सुनाकर अंगोछे से अपनी आँखें पोंछी थीं। माँ कम्बल के नीचे बैठी, कथा में तन्मय थीं, और सुमति बहन के गालों पर आँसू ढलक आये थे। मैंने जगन्नाथ स्वामी का कन्धा हिलाते हुए पूछा, "तब?"

जगन्नाथ स्वामी ने इतना ही कहा कि फिर गौ वहाँ पहुँची, पीछे ही पीछे दुम ऊपर को ऊठाये कुलाँचे भरता हुआ उसका बच्चा भी। बाघ ने देखा, उसका रोम-रोम जैसे फड़का और पलक मारते **उसके स्थान पर अब अपने वास्तविक रूप में राजा प्रभंजन खड़ा** था।

पूर्व प्रकाशित-कर्मधारा(1971)

श्रीमाँ और साधारण जन

विष्णु प्रभाकर

आज भी नहीं भूलता वह दिन। युगों के बाद भारत स्वाधीन हो रहा था। हमें अपने घर की स्वयं देखभाल करने का अधिकार मिल रहा था। यद्यपि देश के कुछ भागों में अब भी रक्त उलीचा जा रहा था, फिर भी हर्ष और उल्लास से जनमानस तरंगायित हो उठा था।

15 अगस्त 1947 का वह ऐतिहासिक दिवस...।

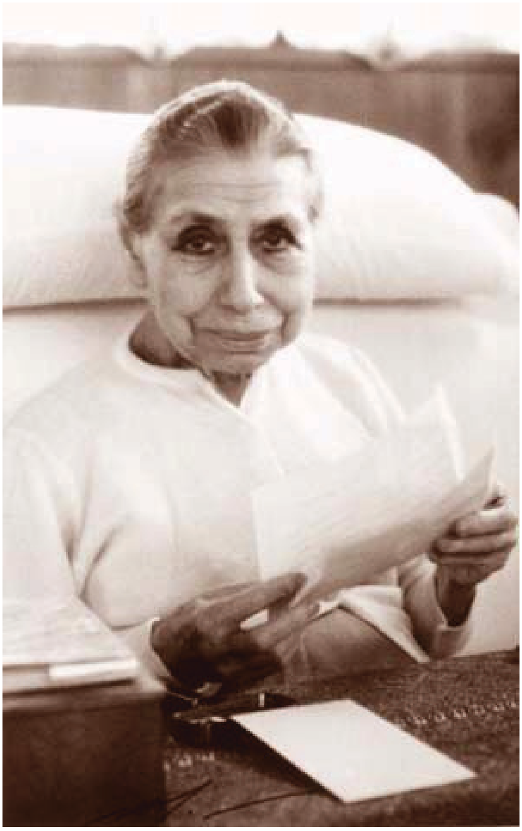

देखता हूँ मैं उस दिन श्रीअरविन्द आश्रम पाण्डिचेरी, पहुँच गया हूँ। बहुत कुछ सुना और पढ़ा था श्रीअरविन्द के बारे में। देश की स्वाधीनता के लिए क्रान्तिकारी बनने से लेकर मानव-मुक्ति के लिए अधिकाधिक युग-पुरुष होने तक की उनकी यात्रा को नाना व्यक्तियों ने नाना रूपों में देखा है। जैसी जिसकी भावना होती है वैसा ही वह देखता है। 15 अगस्त भारत का मुक्ति दिवस था। 15 अगस्त उनका जन्म-दिवस था। सो, हम सभी एक दिव्य उल्लास एक आन्तरिक प्रफुल्लता से भरे-भरे थे...। तभी अचानक एक घटना घटी। किन्हीं अज्ञात व्यक्तियों ने श्रीअरविन्द के निजी सेवक की हत्या कर दी। उल्लास पर्व में इस जघन्य काण्ड से देश के कोने-कोने से आए भक्तगण उत्तेजित हो उठे। वातावरण जैसे स्तब्ध हो आया। दूसरे ही क्षण वे किसी भावी संघर्ष के लिए सन्नद्ध हो उठे। मात्र शब्दों से ही नहीं कर्म से भी। पत्थर-लाठियाँ जो भी उपलब्ध हो सका सहेजने लगे। स्वीकार करूँगा मैं हत्या से उतना स्तब्ध नहीं था जितना इस उद्वेलन से। अतिमानस के अवतरण के लिए साधनारत व्यक्ति इतना चंचल क्यों। क्यों यह उत्तेजना! किससे युद्ध करना चाहते हैं ये लोग अपने से या...।

तभी उस विषाक्त वातावरण में एक अमृत-भरा आदेश गूँज उठा। वह श्रीमाँ का आदेश था। शब्द याद नहीं। अर्थ यही था- जिसे जो कुछ करना है करेगा। आप सब पहले की तरह शांत -निरुद्विग्न अपने

अपने स्थानों को जाएं।

उसी क्षण वह उद्वेलन शान्त हो गया। मेरे मन की फाँस भी निकल गई। मन ही मन श्रद्धानत मैंने श्रीमाँ को प्रणाम किया। उस क्षण से लेकर आज तक मैं उसी श्रीमाँ को जानता रहा हूँ । कई बार दर्शन किये हैं, दूर से और पास से भी। सार्वजनिक रूप से भी और एकान्त में भी उनका आशीर्वाद पाया है। उनको पढ़ाते सुना है, टेनिस खेलते देखा है। उनकी प्रबल शक्ति उनकी व्यवस्था को अनुभव किया है। माँ विराट रूप ही होती है। हम जिस साधारण माँ की बात करते हैं वह सब की माँ होती हैं, आपकी, उसकी, मेरी माँ। भगवती माँ को हम साधारण माँ के माध्यम से ही पाते हैं।

फक्कड़ कबीर ने गाया है ना - *सहज सहज सबहि कहें, सहज न साधे कोय*। सदा सोचता था कि जिसने सहज को साध लिया है वह कैसे व्यवहार करता है। उस दिन मेरे प्रश्न का उत्तर मिल गया। उस विकट परिस्थिति में जैसे श्रीमाँ ने व्यवहार किया वैसे वही व्यक्ति कर सकता है जिसने सहज को साध लिया है। जो सब कुछ से ऊपर उठ जाता है उसी के लिए सब कुछ सहज हो रहता है। वह सदैव एकरस रहता है। तुलसीदास के शब्दों में उसकी स्थिति '*जानत तुमहि तुमहि होई जाई*' वाली होती है। तुम ही हो जाना, सहज हो रहना है। यही *योगी* होना है।

बहुत कुछ पढ़ता हूँ। कुछ इतना गहन होता है, इतना विद्वत्तापूर्ण होता है कि कुछ साधारण-जन की समझ में नहीं आता। पर कुछ होता है कि अर्थ गर्भित होने पर भी अन्तर में उतरता चला जाता है। अर्थ जानने की चेष्टा नहीं करनी पड़ती। वे सहज-सिद्ध होते हैं। उदाहरण के लिए उनके ये मंत्र-वचन कितने सहज बोधगम्य हैं। साधारण जन भी इनके अर्थ ग्रहण ही नहीं कर सकता, जी भी सकता है। विवाद से भी परे हैं वेः-

1. दूसरों पर नियंत्रण करने के लिए अनिवार्य शर्त है, स्वयं पर पूरा-पूरा नियंत्रण पाना।... अपने ऊपर संयम करने से बड़ी विजय और कोई नहीं है।
2. संकट की घड़ी में पूर्ण अचंचलता की जरूरत होती है।.. सच्ची शक्ति अविचल शान्ति में ही मिल सकती है। सच्ची शक्ति हमेशा शान्तिपूर्ण होती है।... चाहे कोई भी कठिनाई हो, अगर हम सचमुच शान्त रहें तो समाधान हो जाएगा।
3. प्रगति का कहीं अन्त नहीं होता और हर रोज आदमी जो करता है उसे ज्यादा अच्छी तरह सीख सकता है।
4. अपनी भूलों को पहचानने से बड़ा साहस कोई नहीं।
5. तूफान केवल समुद्र की सतह पर है। गहराईयों में सब शान्त हैं।
6. पीछे मत देखो, हमेशा सामने देखो, उसे देखो जो तुम करना चाहते हो। तुम निश्चय ही प्रगति करोगे।

7. बहुत ऊँचे उठ जाओ तो तुम बड़ी गहराइयों को पा लोगे।

8. सरल और निष्ठावान हृदय एक बड़ा वरदान है।

9. हमेशा वही करो जिसे तुम अच्छे से अच्छा जानते हो, चाहे वह करने में सबसे कठिन क्यों न हो।

10. केवल वही जो पहले से बहुत सच्चे हैं, यह जानते हैं कि वे पूरी तरह सच्चे नहीं हैं..., हम जितना अधिक जानते हैं, उतना ही अधिक देख सकते हैं कि हम नहीं जानते।

11. औरों की भूलों पर नाराज होने से पहले हमेशा तुम्हें पहले अपनी भूलों को याद कर लेना चाहिए।

12. सारी शरारत संतुलन के अभाव से आती है।

13. स्थिर आशा मार्ग में बहुत सहायता देती है.., हमारी सारी आशा अविचल श्रद्धा में निहित है।

14. हरेक मनुष्य में दुबका हुआ पशु रंचमात्र असावधानी पर प्रकट होने के लिए तैयार रहता है। इसका एक ही उपाय है सतत् जागरुकता।

15. सत्य तुम्हारे अन्दर है लेकिन उसे प्राप्त करने के लिए तुम्हें उसे चाहना होगा।

16. विजय उसी को मिलती है जो सबसे अधिक सहनशील है।

17. मानव बुद्धि की सीमाएँ नहीं हैं। वह शक्ति एकाग्रता से बढ़ती है-यही रहस्य है।

18. हमारे विश्वास की सच्चाई में हमारी विजय की निश्चिति छिपी है।

19. यथासम्भव कम बोलो, काम जितना अधिक कर सकते हो, करो।

20. काम के लिए स्थिरता और नियमितता उतनी ही जरूरी है जितना कौशल।

21. सच्ची साधना से किया गया काम ध्यान है।

22. जब हमें मिल-जुल कर सामूहिक काम करना हो तो हमेशा अपने विचारों, भावों और क्रियाओं में मतभेद की अपेक्षा,सहमति के विषयों पर जोर देना ज्यादा अच्छा होता है।

23. किसी से वह जितना कर सकता है उससे ज्यादा प्रयास करने के लिए न कहा जाए।

24. जीने के लिए खाओ, खाने के लिए मत जिओ।

25. सच्ची आध्यात्मिकता जीवन का त्याग करना नहीं, बल्कि दिव्य परिपूर्णता के साथ जीवन को पूर्ण बनाना है।

क्या ये वाक्य इस बात का प्रमाण नहीं हैं कि जिस व्यक्ति ने इनका उच्चारण किया है वे उसके मुख

से नहीं हृदय से निकले हैं। उसके अनुभूत हैं, इसीलिये सरल भी हैं और सहज भी। उनकी सुन्दर कहानियाँ उनके इन मंत्र-वचनों की तरह ही सहज बोधगम्य हैं। मानव मात्र ही नहीं जीव-मात्र एक परिवार है यह समझने के लिए उन्होंने राजा रन्तिदेव की त्याग-भावना का उदाहरण दिया हैः-

राजा रन्तिदेव ने घर-बार छोड़ दिया और जंगल में रहने लगे। उन्होंने अपना धनधान्य गरीबों में बाँट दिया था और जंगल में सीधा-सादा जीवन बिता रहे थे। उनके पास अपने औरअपने परिवार के लिए बस उतना ही था जितना जीवन-निर्वाह के लिए जरूरी था।

एक बार अड़तालीस घण्टों के उपवास के बाद उनके लिए दूध-भात पकाया गया। एक गरीब ब्राह्मण उनकी झोपड़ी के दरवाजे पर आया और उनसे खाना माँगा। रन्तिदेव ने आधा भात उसे दे दिया। उसके बाद एक शूद्र सहायता की माँग करता हुआ आ पहुँचा और रन्तिदेव ने बचे हुए भात में से आधा हिस्सा उसे दे दिया।

अब उन्हें एक कुत्ते का भौंकना सुनायी दिया। गरीब जानवर बहुत भूखा मालूम होता था। रन्तिदेव ने बाकी भात उसे दे दिया। अन्त में राजा के दरवाजे पर सहायता मांगता हुआ एक चाण्डाल आ पहुँचा। रन्तिदेव ने दूध और शक्कर उसे देकर स्वयं उपवास किया।

अब आये चार देवता और उन्होंने कहा, रन्तिदेव तुमने हम चारों को भोजन दिया, क्योंकि हम ही ब्राह्मण, शूद्र, कुत्ते और चाण्डल का रूप धारण करके आये थे। हम तुम्हारी प्रेम भरी भावना की सराहना करते हैं। इस तरह एक सद्-हृदय सभी मनुष्यों के साथ, यहाँ तक कि पशुओं के साथ भी ऐसे व्यवहार करता है मानों वे सब एक ही परिवार के, एक ही मानव -जाति के सदस्य हों।

श्रीमाँ, श्रीअरविन्द का कार्य करने फ्रांस से भारत आयीं। वह काम है सत्य की सेवा करके और मानव जाति में ज्योति लाकर धरती पर भागवत प्रेम के राज्य को जल्दी लाना। बचपन में उन्होंने आकाश के ऊपर उठ जाने और सुनहरा चोगा पहनने का सपना देखा था, वह इसी भावना का प्रतीक है। उस चोगे को छू कर दुःखी और रोगी मनुष्य सुखी और निरोग हो जाते थे। उन्हीं के शब्दों में, कोई दूसरी चीज इससे अधिक सुख नहीं देती थी और दिन के मेरे सभी कार्य रात के इस कार्य के मुकाबले जो कि मेरे लिए सच्चा जीवन था, बड़े नीरस और भद्दे, सच्चे जीवन से खाली प्रतीत होते थे।

यही प्रथम सोपान है भागवत प्रेम के राज्य को धरती पर लाने का, उस स्वप्न को चरितार्थ करने का जो औरोविल (उषा नगरी) के रूप में हमारे सामने है। श्रीमाँ ने स्वयं स्पष्ट किया है, औरोविल एक ऐसा सार्वभौम नगर बनना चाहता है जहाँ सब देशों के नर-नारी शान्ति और बढ़ते हुए सामंजस्य के साथ रह सकें। वह मत-मतान्तर राजनीति और राष्ट्रीयता से ऊपर होगा। औरोविल का उद्देश्य है मानव -एकता को सिद्ध करना।

तो साधारण जन के लिये श्रीमाँ का यही रूप क्या उपादेय नहीं है? यह रूप गंगा की तरह गरिमामय निर्मल करने वाला सहज प्राप्य है। इसी के माध्यम से वह भगवती माँ तक पहुंच सकता है।

मातृ-शती

(1878-1978)

सच्चा आनन्द

मुरारीलाल पराशर

श्रीअरविन्द साहित्य

प्रायः पचास वर्ष हुए जब श्रीअरविन्द 'सावित्री' नाम के अपने महाकाव्य को छोड़कर अन्य सब महान् ग्रन्थों को आर्य नाम की मासिक पत्रिका में प्रकाशित कर चुके थे। कुछ थोड़े लोगों ने ही इस मासिक पत्रिका को पढ़ा था, परन्तु वे श्रीअरविन्द के लेखों को पढ़ कर यह समझ गये थे कि श्रीअरविन्द के द्वारा एक नए ज्ञान, नई ज्योति और एक नयी शक्ति का अवतरण हो रहा है। अंग्रेजी भाषा का यह सौभाग्य है कि अत्युत्तम ज्ञान उनके द्वारा संसार के पास पहुँचा। श्रीअरविन्द का प्रशिक्षण भी अंग्रेजी और प्राचीन पाश्चात्य भाषाओं–ग्रीक और लैटिन में हुआ था। जब वह इक्कीस वर्ष की आयु में भारत लौटे तो वह भारत की सब भाषाओं से अनभिज्ञ थे। भारत में आकर ही उन्होंने संस्कृत का अध्ययन किया और भारत की आत्मा को जान कर भारत को और संसार को इस आत्मज्ञान से परिचित करने के लिए अपनी लेखनी का पूर्ण प्रयोग किया।

'श्रीअरविन्द कर्मधारा' इस ज्ञान को और श्रीअरविन्द की दिव्य चेतना को सामान्य जनता के पास ले जाने का एक प्रयत्न है। समय आ गया है कि यह प्रयत्न पूरी शक्ति से सब स्तरों पर हो। श्रीअरविन्द साहित्य को उनके शब्दों अथवा अन्य शब्दों में जनता के सामने लाने से हम जनता को अज्ञान और निराशा की उस अन्धेरी कोठरी से निकालने में सफल होंगे जिसमें वह चिरकाल से पड़ी हुई है, और जिससे बाहर निकलने की न तो उसके अन्दर इच्छा और न साहस ही है।

हमने राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्ति के इन वर्षो में आर्थिक और सामाजिक उन्नति अवश्य की है। हमारे देश में लाखों यात्री और व्यापारी प्रति वर्ष आते हैं और हमारा व्यापारअन्य देशों के साथ बहुत बढ़ गया है। परन्तु मौलिक समस्याएँ अभी वहीं की वहीं है। मानव प्रकृति की कृत्रिमता जो शायद अभी तक दबी हुई थी पूरी निर्बलता से सामान्य जीवन में नाच रही है। पांडवों के सामने दुःशासन ने द्रौपदी का चीर खींचने का दुस्साहस किया और पाण्डवों से कुछ करते नही बना। वही दशा हमारे देश और समाज की आज है। और सज्जन कहे जानेवाले लोग अपने आप को निस्सहाय पाकर किसी ऐसे नेता की प्रतीक्षा कर रहे हैं जो चमत्कार के द्वारा अथवा किसी तानाशाही विधि से समाज की सब त्रुटियों को निकाल कर उसे गंगा जल की तरह निर्मल कर देगा। यह वैसी ही आशा है जैसी कि राजनीतिक दासता के दिनों में हमारी यह धारणा थी कि अंग्रेजों का राज्य समाप्त होते ही हमारी सब समस्याएँ स्वमेव ही हल हो जाएँगी।

गत वर्षो ने सिद्ध कर दिया है कि समस्याओं को हल करने के लिए उनके वास्तविक रूप को समझना पड़ता है, क्योंकि हमारे यहां समाजवादी शासन प्रणाली है इसलिए जितनी सुशिक्षित और संस्कृत जनता होगी उतनी ही सुयोग्य शासक मण्डली होगी। 'श्रीअरविन्द कर्मधारा' का सबसे बड़ा कार्य श्रीअरविन्द के साहित्य को जनसाधारण तक ले जाना है। इस ज्ञान से ही लोगों मे वह शिक्षा फैलेगी जिससे वे प्रत्येक समस्या को समझ सकेंगे और उसके हल में योग दे सकेंगे।

साधारण जनता (जिन्होंने श्रीअरविन्द का नाम सुना है) यह समझती है कि श्रीअरविन्द तो एक योगी-संन्यासी थे। वह तो अध्यात्मज्ञान के ही शिक्षक थे, वह साधारण संसार की समस्याओं को क्या समझते होंगे। इसके उत्तर में हम यह कह सकते हैं कि संसार का कोई विषय नहीं जिस पर श्रीअरविन्द ने गम्भीर ध्यान से न लिखा हो। राजनीतिक जीवन से पृथक् होते हुए भी उन्होंने एक समाचार पत्र में प्रकाशित अपने एक पत्र में देश-वासियों के लिए वह सब कार्यक्रम प्रस्तुत किया था जिन्हें गाँधी जी ने कार्यान्वित किया।

श्रीअरविन्द ऐसे ऋषि थे जो प्राचीन ऋषियों विश्वामित्र और वशिष्ठ की तरह शासकों के पथप्रदर्शक थे। राजा-महाराजा उनकी सम्मति और उनके ज्ञान को प्राप्त करना अपना सौभाग्य समझते थे। ब्रह्मज्ञान सबसे उत्तम ज्ञान है। यह शेष सब ज्ञानों को जीवन देने वाला है। श्रीअरविन्द सब विषयों पर ज्ञान का एक पूर्ण भण्डार अपने साहित्य में छोड़ गये हैं। यह ज्ञान केवल शाब्दिक ही नहीं, इसमें नवीन चेतना और ज्योति भर देने की शक्ति भी है। हम अपने पाठकों को निमन्त्रित करते हैं और उनसे अनुरोध करते हैं कि श्रीअरविन्द के ज्ञान में जो अमृत है उसको ग्रहण करें और हम पूरे निश्चय से कह सकते हैं कि उनके सामने अपनी और देश की और संसार की विकसित और उन्नत दशा का एक ऐसा चित्र खिंच जायेगा जिसको जीवन में लाने का वे भरसक प्रयत्न करेंगे।

(पूर्व प्रकाशित कर्मधारा 1971)

साधनामय जीवन

डा. इन्द्रसेन

साधनामय जीवन के सामने सदा ही एक साध्य होता है और वह उसमें सिद्धि प्राप्त करने के लिए यत्नवान होता है। निरुद्देश्य जीवन ही साधनाहीन जीवन है और जहाँ उद्देश्य है, जहाँ यत्न है ,जहाँ उत्तरोत्तर प्रगति है ,वहाँ जीवन में संतोष,आनन्द और रस होंगे ही। अथवा जहाँ उद्देश्य नहीं, यत्नशीलता नहीं ,लक्ष्य की उत्तरोत्तर प्राप्ति नहीं केवल सामान्य खाना-पीना, सोना -जागना, थोड़ी मेहनत-मजदूरी और जीवन-यापन है, वहाँ संतोष, आनन्द और रस के लिए क्या अवकाश होगा?

आध्यात्मिक जिज्ञासु के लिए साध्य प्रकाश रूप तथा आनन्दमय आत्मा और परमात्मा हैं। इनकी हृदयगत जिज्ञासा अपने आप में ही अत्यन्त संतोषप्रद होती है। उस पूर्ण आनन्द की हृदय प्रेरित कल्पना ही कितना आनन्द देती है। उस पूर्ण आनन्द का स्पर्श तो जीवन के रोम-रोम को आह्लादित कर देने वाली वस्तु होगी। आत्मा, परमात्मा, परमानंन्द, प्रेम, अमरत्व, पूर्णता, दुःख-शोक से नितांत निवृति, ये सब पर्याय हैं। ये सब के सब अद्भुत उद्देश्य हैं- सच्चे और उच्चकोटि के। इनकी कल्पना, इनका चिन्तन-मनन, इनके लिए सतत पुरुषार्थ, अदभुत रुप में आनन्ददायक हैं और जहाँ गम्भीर भाव का कुछ पुरुषार्थ होता है, वहाँ थोड़ी-थोड़ी उपल्बिध भी अवश्य होती हैं। तब जीवन में रस स्रावित होने लगता है और वह साधनामय बन जाता है।

साधारण जीवन में लोग धन, पद, यश आदि उद्देश्यों के लिए खूब यत्न करते हैं और प्रत्यक्ष ही वे इसमें रस अनुभव करते हैं, परन्तु ये उद्देश्य मनुष्य को धोखा दे देते हैं। वे सब के सब नाशवान और परिवर्तनशील हैं तथा दुविधायुक्त या द्विपक्षीय हैं। मनुष्य इन्हें अजर-अमर सा मानकर उनका अनुपालन करता है और निराश होता है।

साधनाहीन जीवन तो समय काटने वाला जीवन है। उसके लिए समय प्रायः भार-सा अनुभव होता है। उसमें जड़ता बहुत होती है। मोह,भय और चिन्ता अधिक रहते हैं। कुछ सामान्य सी क्रियाओं और चेष्टाओं को वह दोहराता रहता है। उसमें उत्साह, प्रेम, आनन्द, ज्ञान की वृध्दि आदि के लिए मानवी चेतनता अथवा जागरुकता ही नहीं होती।

मानव में वैसे सबसे अधिक चेतनता तथा जागरुकता है। कोई भी अन्य प्राणी इतना सजग नहीं। मनुष्य में ही वास्तव में यह सामर्थ्य हैं कि वह विभिन्न उद्देश्यों को विवेचनपूर्वक देखभाल सकता है । छोटे-बड़े सत्य-असत्य, नाशवान तथा शाश्वत उद्देश्यों में विवेक कर सकता है तथा स्वेच्छापूर्वक अपने चुने हुए उद्देश्य का अनुशीलन एवं उसकी उपलब्धि साधित कर सकता है। वह सामान्य द्वन्द्वमय मानव जीवन से सतत् आनन्द के दिव्य जीवन को प्राप्त कर सकता है।

ऐसा सजग विकास केवल मानव को प्राप्त है। परन्तु वैसे यदि हम विस्तीर्ण अर्थ में सारे जगत् को

देखें तथा मानव प्रकृति की रचना को निहारें तो हमें यह अद्भुत संस्कार मिलता है कि सत्तामात्र विकासमय है। जगत में हम पृथ्वी, सूर्य, तारे-सितारे, नदी, पर्वत, जलवायु आदि असीम जड़ अचेतन तत्वों को देखते हैं। फिर विशाल वन खेत, फल-फूलों के अत्यन्त विविधतापूर्ण क्षेत्र को पाते हैं और फिर असंख्य कीट-पतंग तथा छोटे-छोटे पशुओं की योनियों को देखते हैं। अन्त में मनुष्य को, जो चिंतनशील है, भूत और भविष्य कि कल्पना करता है तथा आत्मा,परमात्मा और पूर्ण ज्ञान और परम आनन्द की जिज्ञासा करता है।

यह सब क्या एक विकास-क्रम का रुप नहीं है? निर्जीव से प्राणमय, तथा चेतना तथा आत्मसजग तथा पूर्ण ब्रह्मज्ञान कितना स्पष्ट और सुन्दर है विकास का मार्ग! फिर तमस, रजस और सत्व स्पष्ट विकास को जतलाते हैं । तमस मंदता है, अन्धता है, अचेतनता है। रजस चेष्टा है, गति है, संघर्ष है, राग-द्वेष है। सत्व समस्वरता है, सन्तुलन है, सुख है, प्रकाश है, सद्भाव है। कितना सुन्दर है विकास का यह समस्त मार्ग। सत्व की स्थिति बड़ी ही सुन्दर है, परन्तु फिर भी आधार भूत में द्वन्द्वमय। आत्मस्थिति मूलगत भाव में एकतत्वमय होती है, अतः तमस, रजस और सत्व की द्वन्द्वात्मक अवस्थाओं से परे है द्वन्द्वातीत आध्यात्मिक स्थिति।

भारतीय जीवन की व्यक्तिगत तथा सामाजिक अवस्था भी विकासात्मक तथ्य पर ही आधारित थी। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास तथा शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के चार ध्येय तथा अधिकार भेद का व्यापक विचार, ये सब के सब जीवन के समष्टि भाव तथा व्यष्टि भाव को अद्भुत रुप में समन्वित करते हैं। इन अवस्थाओं का उद्देश्य केवल यह है कि व्यक्ति तथा समष्टि उत्तरोत्तर यथासंभव अधिक से अधिक विकास को उपलब्ध कर सके और इस विकास का स्वरुप यही है कि हमारी जागरुकता सदा बढ़ती जाये अथवा हमारी मंदता कम होती जाये।

वस्तुतः भगवान ने सारे जगत को साधनामय भाव दिया है, फिर भारतीय संस्कृति के निर्माताओं ने व्यक्ति और समष्टि को साधनामय कल्पित किया था। ऐसे जगत और ऐसे सांस्कृतिक वातावरण में रहते-रहते हम कैसे साधनामय न बनें? साधनामयता हमारे स्वभाव में, हमारे संस्कारों में है और यही हमारे जीवन की परिपूर्णता और तृप्ति की मांग भी है। जड़ता में पड़ना किसी तरह भी अभीष्ट नहीं। सचेतनता, सजगता, प्रकाशमयता, समस्वरता, शांति, आनन्द, सशक्तता ही ध्येय है और इन्हीं का अनुशीलन हमें सहज भाव से करना चाहिए।

अब हमारी जानने की जिज्ञासा यह होगी कि अचेतना से अधिकाधिक सचेतन बनने का यह अभ्यास किया जाये तो कैसे?

उपाय वस्तुतः स्पष्ट और सन्देह मुक्त है। वह यह कि पहले तो हमारे अन्दर इसके लिए उत्कट जिज्ञासा होनी चाहिये। यह जिज्ञासा तथा अभीप्सा तथा चाह तथा लगन कि हम अधिकाधिक सचेतन होते जायें। यह चाह और लगन दिन-रात और हर क्षण की हो जानी चाहिए, सहज और स्वाभाविक हो जानी

चाहिए, स्वप्न में भी यह भाव प्राप्त हो जाना चाहिए इसके लिए सतत् अभ्यास करना होगा। चाह और लगन सच्ची, गम्भीर और व्यापक हो जाने पर शेष कुछ प्रश्न रहता ही नहीं। क्या पूजा करनी चाहिए? क्या और कैसे ध्यान करना चाहिए। अथवा ज्ञान कर्म और भक्ति की किन प्रक्रियाओं का अनुशीलन करना चाहिए? ये सब कुछ भी प्रश्न नहीं रहते। मानव की सच्ची लगन के उत्तर में हृदय-निहित भगवान तथा आत्मा साधक को स्वयं अपना पथ-प्रदर्शन प्रदान करने लगते हैं और वह अपनी उपयुक्त साधना का मार्ग अपने-आप स्पष्ट देखने लगता है। प्यासा पानी खोज निकालता है, उसे पानी मिलता ही है, उसकी प्यास ही उसे वह एकाग्रता प्रदान कर देती है कि वह पानी की खोज में सफल हो जाता है।

व्यक्ति की लगन उसके लिए अनुकूल वातावरण खोज निकालती है, पथ-प्रदर्शन ढूंढ देती है, पठन-पाठन की दिशा दिखा देती है, उसके हृदय में भक्ति-भाव प्रेरित कर देती हैं, उसे सेवा और समर्पण का क्षेत्र सुझा देती है। श्रीअरविन्द की परिभाषा में इसे हम अभीप्सा का विधान कहेंगे। यह विधान साधक के लिए प्रथम वस्तु है तथा उसके लिए सफलता की अचूक कुंजी है। यह होने पर कभी कोई साधक असफल नहीं होता। जहाँ जितनी अभीप्सा में कमी होती है, वहाँ उतनी ही उसकी असफलता रहती है।

कितना सुन्दर है यह तथ्य! अपने हृदय की चाह बढ़ाना ही सारा काम है। बाकी सब अपने-आप होता जायेगा।

हमारी अभीप्सा होनी चाहिए चेतना के विकास के लिए। इसके लिए कि हम अधिकाधिक सचेतन हो जाएँ। हमारी सामान्य चेतना स्वार्थ द्वारा अत्यन्त सीमित और संकीर्ण बन जाती है। उसमें महानता और विशालता नहीं होती। जो चेतना जितनी संकीर्ण होगी, उतनी ही उसमें चिन्ता शीलता होगी। चेतना के विकास का अर्थ है कि उसे विशाल बनाया जाए, उसे सर्वहित के अनुशीलन का अभ्यास कराया जाए, हम अपना काम करते हुए भी अनुभव करें कि यह सर्वहित का ही मन्त्र है। इस प्रकार सर्वहित अधिकाधिक हमारे मन, प्राण में बसने लगे तथा चेतना को उत्तरोत्तर गहरा बनाता जाए। साधारणतया हमारी चेतना वस्तुओं को ऊपर-ऊपर से देखती है तथा तात्कालिक लाभ को ही अनुभव करती है। इसके स्थान पर उसे अभ्यास यह कराया जाए कि वह वस्तुओं को उनके आन्तरिक तथा स्थायी भाव में देखे, किसी व्यक्ति को उसके तात्कालिक क्रोध के रुप में ही न देखे, बल्कि उसके समग्र स्वभाव तथा शान्त आत्मा के रुप में देखे।

साथ ही, हमारी चेतना में महानता आनी चाहिए, वह वस्तुओं तथा व्यक्तियों की सर्वोपरि सत्ता,भगवान की दृष्टि से देख सके। पिता को अपने सारे बच्चे प्रिय होते हैं, बच्चों में आपस में चाहे जितना भी राग-द्वेष क्यों न हो।

भगवद् भाव में वस्तुओं को देखने के अभ्यास से व्यक्ति में अद्भुत महानता आती है। महानता केवल है ही उस दृष्टि में साधनामय जीवन का प्रथम रहस्य है-अभीप्सा, अभीप्सा साधना का सार है। अभीप्सा के बिना साधना साधना ही नहीं। वह फलप्रद नहीं होती। साधनामय जीवन का दूसरा आनन्ददायक रहस्य

है कि जीवन का प्रत्येक कर्म साधनामय बन सकता है। खाना–पीना, सोना-जागना, चलना-फिरना, मिलना–जुलना सब के सब पूजा-अर्चना तथा ध्यान का रूप बन सकते हैं। वह कैसे? इस तरह कि वे सब के सब अधिकाधिक सजगता को बढ़ाने वाले बनें। हम जो कुछ भी करें खूब सजगता से करें उसे अच्छे रूप में करें, विशाल, सर्वहित और गम्भीर स्थायी तत्व की दृष्टि से करें, पूर्णत्व के भाव को लेकर करें। ऐसा करने से हमारी चेतना सतत् भाव में अन्तर्मुखता, ऊर्ध्वमुखता और विस्तीर्णता में साक्षात बढ़ती दिखने लगेगी तथा हमारे जीवन में वृद्धि और लाभ की आन्तरिक अनुभूति होने लगेगी।

कितना सुन्दर और सरल है साधना का यह क्रम! मनुष्य जो भी करे वह सजगता से करे, प्रेम से करे, आनन्द से करे, सर्वहित में करे, भगवद् रुप में करे, विशाल और उदात्त भाव से करे। इस प्रकार उसके सारे कर्म आत्मोपलब्धि और भगवद्-प्राप्ति के साधन बन जायेंगे। घण्टे-दो घण्टे के ध्यान, स्वाध्याय, पूजा पाठ में वस्तुतः वह बल नहीं, जो इस प्रकार किये गये सामान्य कर्मों में है, क्योंकि इस प्रकार तो साधना चौबीसों घण्टे की वस्तु बन जाती है।

ध्यान, स्वाध्याय, पूजा-पाठ विशेष एकाग्रता के विकासात्मक कर्म होने से बराबर उपयोगी है, परन्तु यह स्मरण रखना होगा कि वे उपयोगी तभी तथा उतनी ही मात्रा में होते हैं, जितने वे सजगतापूर्वक, प्रेम तथा आनन्दपूर्वक किये जाते हैं। यांत्रिक रूप में किया हुआ जप चेतना के विकास का कारण कैसे बन सकता है? अन्त में साधनामय जीवन का सार इस प्रकार कहेंगे कि विकासमय जगत् में निवास करते हुए मानव का स्वरुप साधना का ही है और उसे तब, सजगतापूर्वक अपनी चेतना अधिकाधिक बढ़ानी चाहिए। सर्वचेतन भगवान उसका लक्ष्य है, उनका वह स्मरण करे, उनकी अभीप्सा जगाये और सतत् भाव में अचेतनता का त्याग करे और सचेतनता को परिवर्द्धित करे। अपनी चेतनता में विशालता लाये, गम्भीरता जुटाये तथा महानता पैदा करे। वह जीवन में कृतकार्य होगा, आत्मा और परमात्मा को उपलब्ध करेगा।

साभार - अदिति मातृजयन्ति(2017)

ऊषानगरी 'ऑरोविल'

मुरलीधर चांदनीवाला

जहाँ धरती की आत्मा
नित्य प्रकाशमान है,
देवश्रमिक मिलकर
उगाते हैं जहाँ नया सवेरा,
सोने के अगणित कर – पल्लवों को
ऊँचा उठाकर जहाँ झलती है माँ
भगवान् की कृपा हमारे लिये,
जहाँ प्रेम है, शान्ति है,
करुणा है,
कोमल पंखुड़ियों पर
ओस की बूंदों की तरह
खिली हुई प्रार्थनाएँ
जहाँ बसी हैं नीरव और मन्द,
जहाँ सोने की किरणों का बसेरा है,
ऊषा की वह नगरी
समुद्र के एकान्त तट पर
स्थापित है ज्योति से भरे
सुवर्ण-घट की तरह।
यहां उतर कर आते हैं
द्वादश आदित्य,
यहाँ आते हैं
इन्द्र, विष्णु, जातवेदा,
प्रकाश के राजा
विमान में बैठकर ।
यहाँ आती है मातृकाएँ, योगिनियाँ.
पवित्र अभीप्साएँ
ऋषियों की चैत्य सत्ताएँ
भगवद् गीता की सुरभारती,
चौपाइयाँ तुलसी की,
गीत गोविन्द की ललित पदावलियाँ।

चतुष्कोणों पर खड़ी हैं यहाँ
महेश्वरी, महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती,
और अंदर चैत्य के गर्भ की
नीरव प्रशान्ति में
खुली आँखों से देखती है विश्वमाता
दिव्यजीवन के भविष्य का
निर्माण होते हुए
पल- प्रतिपल,
घटित होते हुए देखती है
सुदूर भाग्य के महारास की
समवेत नृत्यमुद्राएँ।
विश्व की सभ्यताएँ
गले मिलती हैं यहाँ आकर
अखंड स्वप्न बुनता है यहाँ समीरण में,
ज्योतिपत्र लहराता है अक्षरव्योम में,
आनंद के सरोवर में
दिव्यता के हंस आते हैं
उड़ान भरते हुए यहाँ।
कोई देखता स्वर्ण का अवगुंठन,
कोई देखता हिरण्यगर्भ,
कोई देखता है
कि खड़ा ऊँचे सुमेरू पर
कोई स्वर्णपुरूष
खोल रहा ज्योति-पृष्ठ
दिव्यजीवन, सावित्री महाकाव्य के।
कोई देखता है
माँ का विशाल हृदय
समुद्र की तरह फैला हुआ भीतर,
जहाँ स्वर्णकाल पर बैठा
कोई ध्यान पुरूष
आह्वान करता है अमृत-यज्ञ का
यहाँ एक मंडप है विशाल
वैदिक छंदो,
उपनिषद् की वाणियों से

बना हुआ,
जिसके नीचे घटित होता है
सोमसवन अहोरात्र।
यहाँ छाया हुआ है
सप्तरंगी इन्द्रधनुष,
यहाँ बहती हैं
शुभ्र रजत की बालुका में
ज्योति की अजस्र धाराएँ
यहाँ प्रज्ज्वलित
विश्व के संकल्प की सनातन दीपशिखा।
वनस्पति की रंध्रों में यहाँ
गूँजता है ब्रह्मनाद,
अकलुष प्रार्थना उठती है
कोमल उंगलियों वाले
नवजात पुष्प बनकर।
उतरते देखा है नक्षत्रों को यहाँ
दिव्य सत्ताओं ने कई बार ।
एक महास्वप्न है यहाँ
जो तैर रहा है माँ की चितवन में ।
उस स्वप्न में से होकर
निकलते हैं तीर्थयात्री,
कोई आचमन करता हुआ
देखा गया है जहाँ ज्योति से,
कमल दलों का अवगाहन करते
देखा है सभी ने
आत्मा के निकुंज-निर्झर में ।
तेजस्वी किरणें उतरती हुईं
चूम लेती हैं
धरा के उन कोमल पंखों को,
जो उड़ान की ऊर्जा से
भरते चले गये हैं
पिछले अर्धशतक में।

29 फ़रवरी

29 फरवरी, 1956 को हमेशा की तरह क्रीड़ांगन में ध्यान हुआ। ध्यान के बाद श्रीमाँ के शब्दों में धरती पर अतिमानसिक अभिव्यक्ति का अवतरण हुआ।

श्रीमाँ ने इस दिन को 'प्रभु दिवस' का नाम प्रदान किया। श्रीमाँ कहती हैंः-

'आज की सांझ तुम्हारे बीच में भगवान की ठोस और तरल उपस्थिति थी। मेरा रूप जीवित स्वर्ण का था-सारे विश्व से बड़ा। मैं एक बहुत बड़े विशालकाय सोने के दरवाजे के सामने खड़ी थी जो जगत को भगवान से अलग करता है।

जैसे ही मैंने दरवाजे पर नजर डाली, मैने चेतना की एक ही गति में जाना और संकल्प किया कि अब समय आ गया है, और दोनों हाथों से एक बहुत बड़ी सोने की हथौड़ी उठाकर मैंने एक चोट लगायी, दरवाजे पर एक प्रहार किया और दरवाजा चूर-चूर हो गया।

तब अतिमानसिक ज्योति, शक्ति और चेतना धरती पर अबाध प्रवाह के रूप में बह निकली।'

इसके बहुत पहले श्रीमाँ ने अपनी प्रार्थनाओं में एक जगह लिखा थाः-

'प्रभु ने संकल्प किया है और तुम कार्यान्वित कर रही हो,
धरती पर एक नया प्रकाश आएगा,
एक नया जगत जन्म लेगा, और जिन चीजों की घोषणा की गई थी, वे चरितार्थ होंगी।'

29 फरवरी 1956 की अनुभूति के बाद श्रीमाँ ने इस प्रार्थना के शब्द इस तरह बदल दियेः-

'प्रभु, तूने संकल्प किया और मैं कार्यान्वित करती हूँ,
धरती पर एक नया प्रकाश आ रहा है,
एक नये जगत ने जन्म लिया है,
जिन चीजों के लिए वचन दिया गया था वे चरितार्थ हो गयीं।'

इसके दो वर्ष बाद श्रीमाँ को एक अनुभूति हुई, उसे उन्हीं से सुनियेः-

'मैंने अपने-आपको प्रकृति के साथ एक कर लिया है, मैंने उसकी लीला में प्रवेश किया और तादात्म्य की इस गति का एक प्रत्युत्तर मिला। मेरे और प्रकृति के बीच एक नये प्रकार की घनिष्ठता, अधिकाधिक निकट आने की एक क्रिया, जिसकी परिणति 8 नवम्बर की अनुभूति में हुई।

अचानक प्रकृति समझ गई कि यह नई चेतना, जिसने जन्म लिया है, उसे ठुकराना नहीं, पूरी तरह अंक में भर लेना चाहिए।

वह समझ गई कि नई आध्यात्मिकता जीवन से कतराती नहीं है, वह उसकी गतियों की भंयकर विशालता से पीछे नहीं हटती, बल्कि उसके सभी रूपों को संघटित करना चाहती है। वह समझ गई कि अतिमानसिक चेतना उसे कम करने के लिए नहीं पूर्ण करने के लिए है।'

तब परम सद्वस्तु में से यह आज्ञा आई 'हे प्रकृति! सहयोग के आनन्द के प्रति जागो' और समस्त प्रकृति आनन्द से उछल पड़ी और बोली मैं स्वीकार करती हूँ, मैं सहयोग दूंगी, और उसी समय शान्त-स्थिरता छा गई। संपूर्ण शान्ति छा गयी ताकि शरीर का यह आधार टूटे बिना, कुछ भी खोये बिना उस

प्रकृति के आनन्द की बाढ़ को ग्रहण कर के अपने अन्दर रख सके, जिसने अपने-आपको कृतज्ञता की गति में छोड़ दिया था। उसने स्वीकार किया। उसने समस्त नित्यता को अपने सामने देखते हुए जाना कि यह अतिमानसिक चेतना अधिक पूर्ण रूप से उसकी पूर्ति करेगी, अगर तुम्हारे हृदय में सच्ची हाँ है तो तुम मुझे पूर्ण रूप से सन्तुष्ट करोगे।

मुझे शब्दों की जरूरत नहीं, मुझे केवल तुम लोगों के हृदयों की सच्ची निष्ठा चाहिए। बस, इतना ही। आश्रम में बाहर से बहुत यात्री आया करते हैं। श्रीअरविन्द की शताब्दी के अवसर पर सात हजार लोगों ने श्रीमाँ का दर्शन किया। उसके बाद श्रीमा ने लोगों के साथ भौतिक संपर्क और भी कम करना शुरू कर दिया। 17 नवम्बर 1973 को आश्रम की ओर से यह घोषणा की गई कि श्रीमाँ ने अपना शरीर त्याग दिया है। श्रीमाँ का शरीर तीन दिन तक आश्रम के ध्यान-कक्ष में रखा रहा और हजारों लोगों ने बड़ी गंभीरता के साथ चुपचाप दर्शन किये और बीस तारीख को श्रीमाँ का शरीर भी श्रीअरविन्द की समाधि में ही समाधिस्थ कर दिया गया।

श्रीमाँ और श्रीअरविन्द एक और अभिन्न थे। श्रीमाँ ने हमें बताया था कि श्रीअरविन्द गए नहीं हैं, वे यहाँ हैं और पूर्णतः जीवित–जाग्रत रूप में हैं और जब तक उन का काम पूरा नहीं हो जाता, यहीं रहेंगे। हम श्रीमाँ के बारे में भी यही कह सकते हैं। श्रीमाँ ने हमें छोड़ा नहीं है। वे अब भी हमारे साथ हैं। हमारे सभी सच्चे प्रयासों में मार्ग दिखाती और सहायता करती हैं। वे तब तक बनी रहेंगी जब तक उनका काम पूरा नहीं हो जाता।

श्रीमाँ कविता नहीं लिखा करती थीं, पर एक लड़की के आग्रह पर एक बार उन्होंने कुछ पंक्तियाँ लिख दी थीं। हम इस अध्याय को उन्हीं पंक्तियों के साथ समाप्त करते हैं। जिन्हें श्रीमाँ से प्रेम है उसके लिए ये आज भी उतनी ही सच्ची हैं।

(हिन्दी अनुवाद)

'मेरी एक प्यारी सी माँ है,
जो मेरे हृदय में निवास करती है।'
हम दोनों एक साथ बड़े खुश हैं और
कभी एक-दूसरे से अलग न होंगे।'

I have a sweet mother
who lived in my heart
we are so happy together
That we shall never part.

'मधुर माँ, वर दे कि
हम हमेशा तेरे
सरल, प्रेम-भरे बालक बने रहें,
तुझ से अधिकाधिक प्रेम करते रहें।'

Permit sweet Mother that we be
Now and for ever more
Thy simple children living Thee
More and still more.

आश्रम की गतिविधियाँ

21st फरवरी

21 फरवरी को श्रीमाँ के पावन जन्म दिवस के शुभ अवसर पर सम्पूर्ण आश्रम में उत्साह तथा प्रसन्नता का भाव व्याप्त था। परिसर में युवा वर्ग की सक्रियता ने उत्साह पूर्ण समारोह का दृश्य उत्पन्न कर दिया था मदर स्कूल की प्राथमिक कक्षाओं द्वारा भक्ति गीतों का भावपूर्ण कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया।आश्रम में चित्र प्रदर्शिनी, चीनी मिट्टी से निर्मित वस्तुओं (pottery) की प्रदर्शिनी आयोजित की गई। संध्या-समय परेड तथा तारा दीदी के सस्वर पाठ के साथ समाधि के चारों ओर अभीप्सा के दीप प्रज्जवलित करते हुए सभी ने श्रीमाँ को नमन किया।

28-02-2020 पुण्य-तिथि-श्री अनिल जौहर जी

10 मार्च : होली

होली के त्योहार पर आश्रम में होलिका दहन को प्रतिकात्मक रूप में मनाया गया। आश्रम द्वारा इस त्योहार की वर्तमान समय में प्रासंगिकता पर विचार हुआ, संध्या समय ध्यान कक्ष में भक्ति-संगीत का आयोजन हुआ। भोजन कक्ष में सुस्वाद भोजन ग्रहण करते हुए आश्रम वासियों का उत्साह प्रसन्नता का विषय था। भोजन भी आश्रम वासियों ने प्रेम और सौहार्द्र के साथ मिलजुलकर तैयार किया था।

माननीय प्रधानमंत्री के साथ भेंट

दिनांक 17/3/2020 को श्री अरविन्द आश्रम(दिल्ली शाखा) से आश्रम की मुख्य ट्रस्टी सुश्री तारा जौहर के नेतृत्व में एक टीम ने देश के प्रधानमंत्री माननीय श्री दामोदर दास नरेंद्र मोदी जी से मुलाकात की। इस टीम में सुश्री तारा जौहर, डॉ0 रमेश बृजलानी, श्री लक्ष्मीनारायण झुनझुनवाला, श्रीमती अंजू खन्ना, श्रीमती पुनीता पुरी ने श्री अरविन्द आश्रम (दिल्ली शाखा)का प्रतिनिधित्व करते हुए प्रधानमंत्री जी को आश्रम की गतिविधियों से अवगत कराया।

सुश्री तारा जौहर ने प्रधानमंत्री के सामने श्रीअरविन्द की 150 वी वर्षगाँठ(2022) से सम्बन्धित परियोजना प्रस्तुत करते हुए बातचीत की। इस परियोजना के अन्तर्गत निम्न प्रस्ताव रखे, यथा----

श्रीअरविन्द के जीवन से सम्बन्धित स्मृतियों के संग्रह हेतु एक भवन (श्री स्मृति) का निर्माण,

श्रीअरविन्द के जीवन और कार्य को चित्रित करते हुए फिल्म निर्माण जिससे आने वाली पीढ़ी उनके जीवन-दर्शन के इस सत्य को जान सके कि 'सम्पूर्ण जीवन ही योग है'।

श्रीअरविन्द की शिक्षा का दूर-दूर तक प्रसार हो सके, तदर्थ राष्ट्रीय सम्मेलनों तथा कार्य शिविरों द्वारा उनके पूर्ण योग तथा सर्वांगीण शिक्षा से सभी को अवगत कराया जाये।

डिजिटल लाइब्रेरी का निर्माण, श्रीअरविन्द के साहित्य तथा उनके विचारों एंव शिक्षा पर पुस्तकों का प्रकाशन श्री अरविन्द के जीवन पर आधारित प्रश्नोत्तरी-कार्यक्रमों तथा सत्संग वार्ताएँ तथा 'माइड क्लीन प्रोग्राम' आदि

प्रधानमंत्री जी के साथ इन गतिविधियों की विस्तृत सूची पर बातचीत की गई। यह बातचीत लगभग आधे घण्टे तक चली, उन्होंने अपनी व्यस्त दिनचर्या से हमारी टीम को इतना समय दिया जिसके लिए टीम के सभी सदस्य कृतज्ञ हैं माननीय प्रधानमंत्री ने श्रीअरविन्द के प्रति सम्मान प्रकट करते हुए इस कार्य में यथा सम्भव सहायता देने का आश्वासन भी दिया।

29 मार्च : श्रीमाँ का पांडिचेरी आगमन

29 मार्च सन् 1914 श्रीमाँ के भारत में प्रथम आगमन का दिन था। इसी दिन वे प्रथम बार श्रीअरविन्द से मिली थीं। श्रीअरविन्द आश्रम में इस दिन को दर्शन-दिवस के रूप में मनाया जाता है। इस वर्ष देश ही नहीं बल्कि समस्त विश्व में व्याप्त इस महामारी (कोरोना) के कारण विशेष सावधानी और सुरक्षात्मक निर्देशों को ध्यान में रखते हुए इस दिन आश्रम प्रांगण में शान्ति-स्थापना हेतु ध्यान-कक्ष में तारा दीदी द्वारा

श्रीअरविन्द–रचित महाकाव्य सावित्री का पाठ आरम्भ किया गया।

यह सावित्री पाठ 29 मार्च से 24 अप्रैल तक प्रतिदिन जारी रहा।

24 अप्रैल 1920 को श्रीमाँ का स्थायी रूप से भारत आना हुआ था। इस वर्ष उनके भारत आगमन को पूरे सौ वर्ष हुए। आश्रमवासियों के लिए यह आगमन विरोधी शक्तियों पर दिव्यता की विजय का प्रतीक हैं।

24 अप्रैल : श्रीमाँ का स्थायी रूप से पांडिचेरी-आगमन

4 अप्रैल : श्रीअरविन्द का पांडिचेरी आगमन

4 अप्रैल सन 1910 को श्रीअरविन्द ईश्वरीय प्रेरणा के वशीभूत पांडिचेरी पहुँचे थे, जिसके पश्चात उनका जीवन पूर्णतः ईश्वर के द्वारा प्रेरित तथा उन्हीं को समर्पित हो गया। उनकी तपस्या गहन रूप से आरंभ हो गई, जिसमें सम्पूर्ण पृथ्वी के दिव्य रूपान्तर का महान लक्ष्य निहित था। श्रीअरविन्द आश्रम में 4 अप्रैल की महत्त्वपूर्ण तिथि को दर्शन-दिवस के रूप में मनाया जाता है। आश्रम में व्यक्ति से व्यक्ति की भौतिक दूरी (सोशल डिस्टेंस) का ध्यान रखा गया।

वर्तमान परिस्थिति में सामूहिक ध्यान बंद करना ही उचित माना गया।अतः सभी ने व्यक्तिगत रूप से ध्यान करने का निर्णय लिया। इस दिन भी 29मार्च. को आरंभ किया गया सावित्री पाठ प्रतिदिन की भांति चलता रहा। आश्रम-प्रांगण में भौतिक दूरी का ध्यान रखते हुए अद्भुत नीरवता का वातावरण रहा।

श्रीअरविन्द के प्रतीक का फूलों द्वारा सुन्दर चित्रांकन पूरे आश्रम में अपना प्रभाव फैला रहा था। सभी सदस्य अपने-अपने कमरों में रहते हुए उस प्रेरणा को ग्रहण कर रहे थे।

YouTube: https://www.youtube.com/sriaurobindoashramdelhibranch?sub_confirmation=1

Facebook: https://www.facebook.com/SriAurobindoAshramDelhiBranch/

Instagram: https://www.instagram.com/sriaurobindoashramdelhibranch/

Twitter: https://twitter.com/SAADelhiBranch

Website: http://sriaurobindoashram.net/

Micro Website: http://sriaurobindoashram.net/Mirra100/